भ्रमर गीत

प्रवचन

अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

संकलन

श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला

भ्रमर-गीत

दार्शनिक विवेचन

प्रवचन

अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

संकलन

श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

आमुख

सकल शास्त्र-पारावारीण, निगमागम-पारदृश्वा, ब्रह्मीभूत, अनन्तश्री विभूषित पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज का नाम भारतीय संस्कृति के प्रत्येक उपासक के मानस-पटलपर सुअंकित है। पूज्य-चरण का वाङ्मय सौरभ आस्तिक हृदय को निरन्तर सुवासित कर रहा है। वे सर्वतो विसरत्प्रतिभा के धनी, वाङ्मिता कला के मूर्तिमान रूप तथा विविध शास्त्रों के मर्म-प्रकाशक थे। वे अद्भुत शरण्य थे—जिसे शरण में लिया, जिसे अपनाया, जिसपर कृपा-कटाक्ष किया, वही निहाल हो गया। पूज्य-चरण की हृदयानुरागिणी वृत्ति सदा उनके अन्तरतम की भक्ति-भावना को उद्घाटित करती रहती थी, उनका मस्तिष्क पक्ष कभी भी हृदय पक्ष को बोझिल नहीं कर पाता था। श्रीमद्भागवत पर उनका स्वाध्याय बहुत गम्भीर था, इस महान् ग्रन्थ के अत्यन्त गहन एवं सूक्ष्मतिसूक्ष्म प्रसंग भी उनके लिए करामलकवत् ही थे। 'रासपंचाध्यायी', 'भ्रमरगीत' एवं ऐसे ही अन्य मार्मिक प्रसंगों की जो व्याख्या उन्होंने की और अपने ग्रन्थ 'भक्तिरसार्णव' में भक्ति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों का जो प्रस्तुतीकरण किया उसके आधार पर समकालीन समालोचकों ने उन्हें 'भक्ति' को दसवें रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया।

प्रस्तुत पुस्तक 'भ्रमर-गीत' की संकलयित्री श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला महाराजश्री के शरण में आयीं। उनके शरण में आते ही इस महिला की बालकपन से ही रसानुगामिनी प्रतिभा निखर उठी। लेखनी कागज पर थिरकने लगी। 'मीरा' के विषय में पद्माजी ने एक गम्भीर शोध-ग्रन्थ लिखा जिसे विद्वानों और भक्तों ने पूर्ण सम्मान दिया और जिस पर वे उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुईं। पूज्यपाद स्वामीजी महाराज के पास ही मेरा इनसे परिचय हुआ। इनके विशेष अनुरोध पर पूज्यवर ने 'श्रीमद्भागवत' के दो अंश 'गोपी-गीत' और 'भ्रमर-गीत' का प्रवचन किया। 'गोपी-गीत' का प्रवचन तीन चातुर्मास्य में सम्पन्न हुआ, 'भ्रमर-गीत' का प्रवचन एक ही चातुर्मास्य में सम्पूर्ण करते हुए उन्होंने यह कहा था कि 'समय बहुत कम है अन्यथा इस पर बहुत विशद व्याख्या हो सकती है।' पद्माजी ने सम्पूर्ण प्रवचनों को टेप कर लिया था, जो उनके पास आज भी सुव्यवस्थित रखे हुए हैं। महाराजश्री के आदेश से ही इन प्रवचनों को लिपिबद्ध करके उन्हें प्रस्तुत रूप में दिखाया गया था। यह संकलन उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्हीं के आदेश से इनको छपवाने की चर्चा भी चली।

इनमें 'गोपी-गीत' का कुछ अंश पहले प्रकाशित हो चुका था किन्तु कतिपय अपरिहार्य कारणों से वह पूर्ण प्रकाशित न हो सका। पद्माजी ने 'भ्रमर-गीत' का संकलन मुझे भी दिखाया था। यह संकलन मुझे बहुत पसन्द आया। अत: मैंने इसके प्रकाशन का

भार अपने ऊपर लिया। 'भ्रमर-गीत' के प्रत्येक पद की व्याख्या में सहृदय-हृदय द्रावक सरसता व्याप्त है। 'पिवत भागवतं रसमालयम्' भागवत-रस का लय पर्यन्त पान करना चाहिए यह सन्देश, यथार्थ रूप से इसमें निहित है। प्रत्येक सहृदय व्यक्ति को परम सरस, परम रसिक श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज की रसमयी वाणी का आस्वादन स्वयं करना चाहिए। साथ ही, इस संकलन-ग्रन्थ, 'भ्रमर-गीत' के प्रचार-प्रसार द्वारा जन-जन के हृदय में इस रसमयी दिव्यवाणी का संचार कर अपने पावन कर्तव्य का पालन करना चाहिए। पूज्य चरणों के आशीष से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। हम 'भ्रमर-गीत' के प्रकाशन के अवसर पर परम पूज्य श्रीचरणों में अपनी प्रणामाञ्जलि निवेदन कर उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ की संकलयित्री श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला को भी इस कार्य के लिए धन्यवाद देते हुए ऐसे कार्यों में उनकी सतत प्रेरणा बनी रहे यह आशीष प्रदान करते हैं। श्रीयुत् पुरुषोत्तमदासजी मोदी जिनसे मनोयोग पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ, मैं आभार व्यक्त करता हूँ। पूज्य चरणों का सत्-साहित्य जन-जन में प्रचारित होता रहे, यही भगवान् से प्रार्थना है।

मार्कण्डेय ब्रह्मचारी

श्रीधर्मसंघ शिक्षा-मण्डल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।

वक्तव्य

प्रात:स्मरणीय परम पूज्य अनन्तश्री विभूषित श्रीगुरुदेव स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज द्वारा 'श्रीमद्भागवत' अन्तर्गत प्राप्त 'भ्रमर-गीत' पर किये गये प्रवचनों का यह संकलन प्रकाशित हो रहा है। यह मेरे लिए अतिशय आनन्द का विषय है। साथ ही, विषय का गाम्भीर्य, वक्ता की ज्ञान-गरिमा मण्डित महत्ता और अपनी नितान्त अज्ञता के कारण अत्यन्त संकोच भी हो रहा है।

उक्त प्रवचनों को पुस्तक-रूप में परिवर्तित करते हुए यत्र-तत्र किञ्चित् अनिवार्य परिवर्तन भी किये गये हैं। प्रवचन-काल में किसी विषय को स्पष्ट करने हेतु की गयी पुनरुक्ति को छोड़ भी दिया गया है तथापि विषयानुक्रम सर्वथा तदनुसार ही है; साथ ही सम्पूर्ण संकलन में महाराजश्री के भाव, भाषा एवं शैली का अक्षरशः अनुसरण किया गया है। फिर भी 'भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणा-पाटवादि पुरुष-स्वभाव-सुलभ' दोषों तथा मेरे अज्ञान के कारण बहुत सी त्रुटियाँ रह गयी होंगी। विद्वत्-वर्ग से मेरी कर-बद्ध विनम्र प्रार्थना है कि प्रस्तुत संकलन में जो भी त्रुटियाँ रह गयी हों उनके लिए क्षमा करते हुए मेरा मार्ग प्रदर्शन भी करेंगे ताकि भविष्य में उन त्रुटियों का अपमार्जन किया जा सके।

प्रात:स्मरणीय अनन्तश्री विभूषित स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज के लिए भी मैं बारम्बार सश्रद्धया करबद्ध नमस्कार करती हूँ। उनके आशीर्वाद से ही यह पुस्तक प्रस्तुत रूप में छप सकी; पूज्य भाई श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी ने जिस मनोयोग से मेरे लेखन की त्रुटियों को शुद्ध किया तदर्थ मैं उनके प्रति बारम्बार नतमस्तक हूँ; साथ ही आशा करती हूँ कि उनका ऐसा सहयोग भविष्य में भी मिलता रहेगा।

अपनी बड़ी बहन श्रीमती सुलभा देवी गुप्ता के वात्सल्यमय सहयोग और पुत्रवत् चि० अनिलकुमार गुप्ता, चि० सुशीलकुमार गुप्ता, चि० चन्द्रशेखर गुप्ता और चि० अशोककुमार गुप्ता का स्नेहमय सहयोग भी मेरे लिए अविस्मरणीय है। पूज्य बहन के प्रति सादर नतमस्तक हूँ, पुत्रवत् चारों भाइयों की सदा वर्द्धनोन्मुख मंगल की करबद्ध प्रार्थना भूतभावन भगवान् विश्वनाथ से करती हूँ।

आदरणीय भाई श्रीमार्कण्डेयजी ब्रह्मचारी (धर्मसंघ-विद्यालय, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी) जो लगभग चालीस वर्षों से महाराजश्री की सेवा में रहते हुए उनके लेखन का कार्य करते रहे हैं, के विशिष्ट परिश्रम-साध्य सहयोग के कारण ही यह संकलन अपने प्रस्तुत स्वरूप में सम्भव हो सका है। उनके इस स्नेहाशीर्वादमय सहयोग के प्रति मैं सदा-सर्वदा सादर नत-मस्तक हूँ।

विद्वत्-वर्ग से मेरी पुनः करबद्ध प्रार्थना है—

अज्ञान-दोषान्मतिविभ्रमाद् वा यदर्थहीनं लिखितं मयात्र।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयम् क्रोधा न कार्यो ननु मानवोऽहम्॥

—पद्मावती झुनझुनवाला

अनुक्रमणिका

॥ श्री हरिः ॥

उपोद्घात

'श्रीमद्भागवत' के दशम-स्कन्ध के अन्तर्गत चार गीत उपलब्ध होते हैं; 'वेणु-गीत', 'गोपी-गीत', 'युगल-गीत' और 'भ्रमर-गीत'। ये गीत अत्यन्त भावपूर्ण हैं। इनके श्रवण, अध्ययन एवं मनन से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, साथ ही भगवत्-चरणारविन्दों में दृढ़ प्रीति का उदय होता है। दशम-स्कन्ध का ४७वाँ अध्याय 'भ्रमर-गीत' आख्यात है; इस गीत में गोप-बालिकाओं ने भगवान् श्रीकृष्ण को उलाहना देने के ब्याज से उनका संकीर्तन किया है।

प्रत्येक व्यवहार में अर्थ-ज्ञान की अपेक्षा होती है; यथार्थ-ज्ञान का निर्णय प्रमाण पर ही निर्भर होता है। प्रमा का कारण (असाधारण कारण) ही प्रमाण है। व्यवहारतः ज्ञान दो प्रकार का होता है; एक भ्रमात्मक और दूसरा प्रमात्मक। उदाहरणतः रज्जु में सर्प का अथवा मरीचिका में जल का ज्ञान भ्रमरूप, अयथार्थ है। नैयायिकों की दृष्टि से यथार्थ-ज्ञान का निर्णय संवादी-प्रवृत्ति के आधार पर होता है। वेदान्तियों तथा मीमांसकों की दृष्टि में प्रत्येक ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होता है; अप्रामाण्य परतः ज्ञान स्वयमेव बोधकारक तत्त्व है। कारण-दोष का ज्ञान एवं अर्थ का बाध होने पर ज्ञान का अप्रमाण्य होता है।

प्रमाण भी अनेक प्रकार का होता है। पहला प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण है; यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी छह प्रकार का होता है; पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान तथा मन से होने वाला छठा ज्ञान। इन छह प्रकार के ज्ञान तथा इनके करण छह प्रमाणों को चार्वाक भी स्वीकार करते हैं। दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्पूर्ण का बोध सम्भव नहीं। 'अप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिता अनवधेय वचनो भवति।' अर्थात्, जो वक्ता अजिज्ञासित प्रश्न को प्रतिपादित करता है वह अनवधेय-वचन है; अर्थात् उन्मत्तवत् उपेक्ष्य है। प्रतिपित्सा, जिज्ञासा होने पर ही कहे गये वचन सार्थक होते हैं। स्वयं की जिज्ञासा, भ्रान्ति, विप्रतिपत्ति एवं संशय का ज्ञान अन्य को नहीं हो सकता क्योंकि आन्तर-विषयों का प्रत्यक्ष स्व-मानस द्वारा ही सम्भव है। 'बहिर्विषये मनसोऽस्वातन्त्र्यम्' बहिर्विषयों में मन अस्वतंत्र है; यदि अन्य के आन्तर ज्ञान की अनुभूति उसके शब्दों से मान्य हो तो शब्द-प्रमाण और मुखाकृति, चेष्टा आदि से मान्य हो तो अनुमानप्रमाण बलात् स्वीकार्य हो जाता

है। अतः 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इस सिद्धान्त का स्वतः खण्डन हो जाता है।

तीसरा प्रमाण, शब्द प्रमाण है; शब्द-प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण पर आधारित नहीं होता; वह स्वतन्त्र है। सत्य-ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है। शब्द का अर्थ संकेत-ग्रह से होता है, प्रत्यक्ष-प्रमाण सत्यार्थ है। सत्यार्थ के बोध-कारक संकेतों का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाणों पर आधारित है; शब्द के द्वारा स्वार्थ-बोध में इतर प्रमाण अनपेक्षित है। जैसे रूप-ज्ञान में नेत्र, गन्ध-ज्ञान में घ्राण, स्पर्श-ज्ञान में त्वचा स्वतंत्र प्रमाण हैं, वैसे ही धर्म और ब्रह्म के ज्ञान में केवल आप्त-वतन ही स्वतंत्र प्रमाण है। भ्रम-प्रमाद-विरहित ही आप्त है। वाक्य में दूषण वक्ता की अनाप्तता से होता है, अतः पौरुषेय वाक्य में भ्रम, प्रमाद, विप्रतिलिप्सा, करणापाटवादि के कारण दूषण सम्भव हो सकता है परन्तु अपौरुषेय वाक्य उक्त दोषों से रहित आप्त-वाक्य हैं।

'वेदाः अपौरुषेयाः' वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनमें पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि की सम्भावना कदापि नहीं होती अतः वेदराशि ही निस्संदेह परम प्रामाण्य है। वेदों का कर्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अनादि काल से उनके अध्ययन-अध्यापन की, तदर्थानुष्ठान की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है; इस आधार पर भी उनकी अपौरुषेयता स्वतः सिद्ध है। कुमारिल भट्ट के 'श्लोकवार्तिक' और 'तन्त्र-वार्तिक', 'शास्त्र-दीपिका', 'भाट्टमत-दीपिका', 'शाबर-भाष्य', 'जैमिनीय सूत्र' आदि सब ग्रन्थ बड़े समारोहपूर्वक वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करते हैं। आद्य-शंकराचार्य, रामानुजाचार्य निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य आदि सभी वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करते हैं। इस विषय पर स्वयं हमारा सुदीर्घ शास्त्रार्थ 'वेद-स्वरूप-विमर्शः' नामक ग्रंथ में प्रकाशित है। आर्य-समाज भी वेदों को मानता है, उनका सम्मान करता है तथापि उनकी मान्यतानुसार चार संहिता मात्र ही वेद-राशि हैं। सनातन-धर्मानुसार वेद की ११३१ शाखाएँ हैं, प्रत्येक शाखा में एक मन्त्र-संहिता, ब्राह्मण-भाग, आरण्यक-भाग, उपनिषद् भाग आदि हैं। इन सब ग्रंथों को न मान कर केवल चार संहिताओं को ही वेद-राशि मानना उनका अपमान करना है।

वेद का अर्थ है धर्म एवं ब्रह्म। धर्म के कारण अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि शुद्ध होती है। सकाम-कर्म नाना प्रकार के अभ्युदय का साधन है। सकाम-कर्म से अनेक प्रकार की लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति होती है तथापि भगवत्-चरणारविन्दों में समर्पित निष्काम-कर्म का अनुष्ठान ही महत्त्वपूर्ण है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९.२७)

अर्थात्, हे कौन्तेय! तुम जो कुछ करते हो, यज्ञ, दान, तप, व्रत सब कुछ मुझको अर्पण कर दो।

श्रीमद्भागवत का उपदेश है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मनावाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(११.२.३६)

अर्थात्, मन, वचन, बुद्धि, अहंकार से जो कुछ भी कर्म करते हो सबको भगवत्-चरणारविन्दों में, अपने इष्टदेव के चरणारविन्दों में समर्पित कर दो।

'दुर्गा-सप्तशती' में तो समर्पण को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। 'यो निष्कीलां विधायैनां' के सन्दर्भ में कहा है कृष्णायां वा चतुर्दश्यामष्टम्यां वा समाहितः। ददादि प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।' अर्थात् प्रत्येक मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को अखिल ब्रह्माण्ड नायिका भगवती पराम्बा की पूजा-अर्चा करते हुए अपना सर्वस्व उनके श्रीचरणों में अर्पित कर उन्हीं से प्रसाद-रूप में पुनः स्वीकार कर लो। तदनन्तर इस प्रसाद को नियमानुसार गुरु, ब्राह्मण, अतिथि और परिवार में विनियोग कर देना ही उत्कीलन है। इस तरह किये गये कर्म का लोकोत्तर फल होता है। श्रेय और प्रेय दोनों की ही प्राप्ति होती है। केवल भगवती की आराधना में ही नहीं अपितु प्रत्येक आराधना-पद्धति में ही ऐसा नियम है। वैष्णव-जन एकादशी का उपवास कर द्वादशी को भगवान् विष्णु की सांगोपांग पूजा कर उनके मंगलमय चरणारविन्दों में अपना सर्वस्व अर्पण कर दें, तदनन्तर उसको प्रसाद-बुद्धि से ग्रहण करें। यही धर्म का उत्कृष्ट रूप है। ऐसे ही अनुष्ठान से बुद्धि शुद्ध होती है। शुद्ध बुद्धि से ही तत्त्व-बोध, नित्यानित्य-विवेक, लौकिक-पारलौकिक विषयों से विराग, शान्ति, दान्ति, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा का समाधान होकर तीव्र मुमुक्षुत्व का उदय होता है। जैसे तीव्र बुभुक्षा होने पर प्राणी क्षुधानिवृत्ति के साधन में अनिवार्यतः प्रवृत्त होता है वैसे ही तीव्र मुमुक्षा (मोक्ष की उत्कृट कामना) जागृत होने पर प्राणी उस ओर अवश्य ही प्रेरित होता है। भगवदभिमुख होने पर निस्संदेह मुक्ति हो जाती है। वेद का तात्पर्य ब्रह्म में ही है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहोरसिका भुवि भावुकाः॥

(भा० १.१.३)

अर्थात्, श्रीमद्भागवत को निगमरूपी कल्पवृक्ष का फल कहा है। जैसे वृक्ष की डाल पर पककर स्वयं गिरने वाला फल मधुरातिमधुर होता है तथापि शुक-तुण्ड से संस्पृष्ट होने पर उसके स्वाद में और भी विशेषता आ जाती है वैसे ही वेद-कल्पतरु का श्रीमद्भागवत-रूप यह फल भी वेद-कल्पतरु पर ही परिपक्व होकर निपतित हुआ है; साथ ही, महामुनीन्द्र परमहंस श्रीशुकाचार्यजी के मुखारविन्द से निर्गलित है अतः इसमें लोकोत्तर स्वाद है। ऐसे श्रीमद्भागवत-रूप फल को पीओ। सामान्यतः फल को चूसकर उसके रस को पीकर त्याज्य अंश को फेंक दिया जाता है परन्तु निगम-कल्पतरु का यह फल अत्यन्त विलक्षण है, यह सर्वथा रस से ओत-प्रोत है, इसमें त्याज्य अंश है ही नहीं। अतः यह अद्वितीय फल परम पेय है। 'ननु वक्तृ -विशेष-निःस्पृहा' स्थिति-विशेष में वक्ताविशेष से निःस्पृह होकर भी गुण-ग्रहण किया जाता है। अन्य किसी स्थिति में 'वक्तृ विशेष-संस्पृहता' का ही महत्त्व होता है। तात्पर्य यह कि वक्ता के महत्त्व के आधार पर कथन-विशेष का महत्त्व स्वीकृत होता है। महामुनीन्द्र, परमहंस शुकाचार्यजी के मुखारविन्द से निर्गलित होने के कारण इस फल का वैशिष्ट्य स्वयंसिद्ध है। 'श्लोकं श्लोकार्धमेव वा' इसके एक श्लोक अथवा श्लोकार्ध के पठन-मनन से ही साक्षात् परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो जाते हैं क्योंकि सम्पूर्ण 'श्रीमद्भागवत' ही श्रीकृष्णचन्द्र का वाङ्मय स्वरूप है। इसी तरह शिव-महिम्नः स्त्रोत भगवान् शिव का वाङ्मय स्वरूप है। यथार्थतः प्राक्तन्, प्राक्सिद्ध वेद-उपनिषद् आदि सब भगवान् के वाङ्मय स्वरूप हैं।

'श्रीमद्भागवत' सम्पूर्णतः भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का मंगलमय स्वरूप होने के कारण परम पूज्य है। तथापि इसमें भी दशम स्कन्ध आश्रय रूप होने के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। भिन्न-भिन्न टीकाकारों के मत में कुछ भेद भी है; श्रीधरी टीकानुसार दशम स्कन्ध भक्ति का आश्रय मान्य है। मुख्यतः 'श्रीमद्भागवत' के दश लक्षण स्वीकृत हैं।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

(२.१०.१)

दसवें तत्त्व की विशुद्धि के लिए ही नौ तत्त्वों का निरूपण होता है। 'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्' (२.१०.२) अपवाद और अध्यारोप के

द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्म का ही निरूपण किया जाता है। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं' तात्पर्य यह कि अध्यारोप के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का ही प्रपञ्चन किया जाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। *(तै० ३.३.१)*

अनन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन, संहरण जिससे होता है वह सर्व-कारण, सर्वाधिष्ठान, सर्व-पालक ही आश्रय-तत्त्व है। इस आश्रय-तत्त्व की विशुद्धि के लिए ही नौ का लक्षण किया जाता है। 'मुक्तोपसृप्य' मुक्तों का प्राप्य-तत्त्व ही आश्रय-तत्त्व है। दशम स्कन्ध में आश्रम-तत्त्व का ही वर्णन है, 'दशमे दशमो हरिः' दशम स्कन्ध में दशम अर्थात् मुक्ति के आश्रय रूप हरि का ही वर्णन है अतः दशम स्कन्ध भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का साक्षात् स्वरूप है। सम्पूर्ण 'श्रीमद्भागवत' में ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की मंगलमयी लीलाओं का वर्णन है तथापि दशम स्कन्ध में विशिष्ट लीलाओं का वर्णन है अतः उनका महत्त्व भी विशिष्ट है।

केवल श्रीमद्भागवत के ही नहीं अपितु सकल सच्छास्त्रों के महातात्पर्य के विषय भगवान् ही हैं।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(कल्कि पुराण, ३.२१.३८)

अर्थात् वेद, रामायण, पुराण और महाभारत सब के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र हरि ही हरि व्याप्त हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में एक ही परात्पर प्रभु का विभिन्न स्वरूपों में वर्णन है। एक ही तत्त्व कहीं श्रीराम, कहीं श्रीकृष्ण, कहीं शिवरूप में तो अन्यत्र राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी श्रीललिता पराम्बा षोडशी रूप में वर्णित हैं। 'आकाशस्तल्लिंगात्' (ब्रह्मसूत्र १.१.२३) न्याय से अन्य स्थलों पर भी विभिन्न वर्णन हैं। 'आसमन्तात् काशते भासते इति आकाशम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आकाश ही ब्रह्म है। इसी प्रकार प्राणों से भी अनेक ब्रह्माण्डों की उत्पादकता, पालकता एवं संहारकता लक्षित होती है। अतः प्राणशब्द का भी अर्थ परब्रह्म ही कहा जायगा। 'प्राणस्य प्राणः' (बृ० उ०, ४.४.१८) वह प्राणों का प्राण है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी लिखते हैं, 'प्राण के प्राण, जीव के जीव, सुख के सुख राम।' तात्पर्य कि सम्पूर्ण सच्छास्त्रों में प्राण के प्राण, परात्पर, परब्रह्म, परमात्मा का ही निरूपण किया गया है; कहीं उनके नाम का संकीर्तन है, कहीं उनके गुण-गणों का गान है तो कहीं उनकी

मङ्गलमयी लीलाओं का वर्णन है। 'संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्' (भाग० ६.३.२४) सम्पूर्ण शास्त्र, तन्त्र, आगम, निगम, पुराण, उपपुराण, वेद, महाभारत सब एक ही परात्पर परब्रह्म में पर्यवसित होते हैं। तथापि 'श्रीमद्भागवत' का विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि वह वेदों का परिपक्व फल, सार-तत्त्व है। इसमें दशम-स्कन्ध का विशेष महत्त्व है क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण परमात्मा की मङ्गलमयी लीलाओं का वर्णन है।

भगवत्-नाम, रूप एवं लीला सब भगवद्-रूप ही हैं। जैसे अमत-महासमुद्र की प्रत्येक तरंग अमृतमयी है वैसे ही नाम, रूप एवं लीला भी अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य गुण-गण-सुधा-समुद्र के अंगभूत साक्षात् ब्रह्मरूप ही हैं। अत: भगवन्नाम का रसास्वादन, भगवत्-चरित्रामृत का रसास्वादन करने वाले कदापि अकृतार्थ नहीं होते क्योंकि ये प्राणी के परम कल्याण, परम सुख, शान्ति एवं परम गति मोक्ष के मूल हैं। रसास्वादन ही मूलभाव है। बिना रसास्वादन के उत्कृष्टाति उत्कृष्ट वस्तु भी निरर्थक हैं। उदाहरणत:, दुर्योधन को भी परात्पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन होता ही था परन्तु रजोगुण-तमोगुण के विस्तार के कारण उसको स्वरूप-दर्शन का रसास्वादन सम्भव न हो सका। यथार्थत: किसी भी रसास्वादन के लिए तदनुकूल योग्यता अनिवार्य है।

भगवत्-स्मरण, भगवत्-नामामृतपान केवल साधन ही नहीं अपितु साध्य भी है। ज्ञानियों में अग्रगण्य, पवनसुत हनुमन्तलाल ने तो अपने प्रभु रामचन्द्रजी से वरदान ही माँगा—

स्नेहो मे परमो राजन् त्वयि तिष्ठत् नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीरभावो नान्यत्र गच्छतु॥१६॥

यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्त प्राणा मम न संशयः॥१७॥

यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन।
तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥१८॥

तब भगवान् राम वरदान देते हैं—

एवमेतत् कपिश्रेष्ठ भविता न च संशयः॥२८॥

(वाल्मीकीय रामायण, सर्ग ४०, उत्तरकाण्ट ४०)

जीवन-मुक्त महामुनि भी हरि-गुणगण-श्रवण से तृप्त नहीं हो पाते।

जीवन मुगत महामुनि जेऊ। हरि गुण सुनत अघात न केऊ॥

(श्रीरामचरितमानस)

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

(भाग० २.१.७)

श्री शुकदेवजी महाराज परीक्षित से कह रहे हैं, हे राजन्, जो निस्त्रैगुण्य में रमता है वह विधि-निषेध के पारंगत है; अर्थात् उसके लिए कोई विधि-निषेध नहीं है। ऐसे जो विधि-निषेध के अविषय, सर्वदा निर्गुण-निराकार परब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं, जो ब्रह्मविद्-वरिष्ठ हैं वे भी भगवान् के गुण-गान में सर्वदा रमण करते हैं।

आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं।
रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

जिन्होंने आशा को वसन बना लिया उनका भी व्यसन है कि जहाँ-जहाँ रघुनाथ-संकीर्तन होता है वहाँ-वहाँ वे अनिवार्यतः पहुँच जाते हैं।

यत्र यत्र रघुनाथ-कीर्तनं तत्र-तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

अर्थात्, जहाँ-जहाँ भगवान् राम का संकीर्तन होता हो वहाँ-वहाँ हनुमानजी अवश्य ही पधारते हैं; उनका अंग-प्रत्यंग रोमाञ्च-कण्टकित हो जाता है; उनके नेत्र आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण हो जाते हैं; वे कृतमस्तकाञ्जलि होकर, भाव-विह्वल हो रघुनाथ-कथा का सुधा-रस पान करते रहते हैं। उक्त सम्पूर्ण का सार संक्षेप में यही है कि भगवन्नामामृत-पान करने वाला सदा-सर्वदा ही कृतार्थ होता है।

साधक नाम जपहिं लव लाए।
होहिं सिद्धि अणिमादिक पाए॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' में श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुनः॥

अर्थात्, हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, अलौकिक हैं, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वतः जानता है वह शरीर को त्याग कर पुनः जन्म को नहीं प्राप्त होता किन्तु मुझको ही प्राप्त होता है।

श्रीभगवान् के जन्म-कर्म सब दिव्य हैं अतः निरन्तर उनका चिन्तन करने से प्राणी प्राकृत जन्म-कर्म से विमुक्त हो जाता है। इसके विपरीत अपने तथा अन्य के जन्म-कर्म-चिन्तन से आवागमन का बन्धन दृढ़तर होता जाता है क्योंकि सांसारिक जन्म-कर्म प्राकृत हैं।

श्रीमद्भागवत में आनन्द-कन्द, परमानन्द, परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र के नाना प्रकार की लीलाओं का वर्णन है। यह लीलाएँ भी दो प्रकार की हैं— सम्प्रयोगात्मक एवं विप्रयोगात्मक। गोवर्धन-लीला, नाग नाथने की लीला, चीर-हरण लीला, दधि-दान लीला आदि सम्प्रयोगात्मक लीलाएँ हैं। इनमें श्रीभगवान् और उनके भक्तों के सम्मिलन की लीलाएँ हैं; विप्रयोगात्मक लीलाओं के अन्तर्गत भक्तों का भगवान् के साथ वियोग हो जाता है; भगवान् से वियुक्त होकर भक्त जिस अतुलनीय संताप का अनुभव करता है, वही विशेष महत्त्वपूर्ण है। जैसे आतप से संतप्त प्राणी ही छाया के सुख का यथार्थ अनुभव कर पाता है वैसे ही विप्रलम्भ से रस की निष्पत्ति होने पर ही संप्रयोग-सुख का गूढ़ स्वाद मिलता है। शृंगार-रस रूप अमृत के दो चषक हैं—एक सम्प्रयोगात्मक रस से और दूसरा विप्रयोगात्मक रस से परिपूर्ण हैं तथापि दोनों परस्पर पूरक हैं।

सम्प्रयोगात्मक सुख की पूर्ण उपलब्धि के लिए पूर्व-राग अनिवार्य है। प्रियतम-मिलन की सम्भावना ही पूर्व-राग है। सम्भावना के आधार पर ही उत्कट उत्कंठा वृद्धिगत होती है; उत्कट उत्कंठा से ही तीव्र प्रयास सम्भव होता है। 'वेणुगीत' में पूर्वराग का ही वर्णन है। भौतिक लाभ की तृष्णा से विनिर्मुक्त हो भगवत्-पदाम्बुज-सम्मिलन की आशा-लता को पल्लवित-प्रफुल्लित करना ही पूर्व-राग है।

भगवान् के सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य आदि के गुण-गणों का रसस्वादन ही भगवत्-सम्प्रयोग है। सम्भोग-सुख-प्राप्ति के अनन्तर वियोग हो जाने पर जो अतुलनीय ताप होता है वह पूर्व-राग के ताप की अपेक्षा कई गुणा अधिक होता है। 'भ्रमर-गीत' में विप्रलम्भ-शृंगार का ही वर्णन है।

भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण कंस को मार कर अपने पिता-माता, वसुदेव-देवकी को बन्धन से मुक्त कर नन्द बाबा एवं सखा ग्वाल-बालों के पास उनको बिदा देने आते हैं। इन लोगों के लिए श्रीकृष्ण से वियुक्त होने की कल्पना भी असहनीय है; ये लोग श्रीकृष्ण के बिना गोकुल लौट कर जाना नहीं चाहते तथापि इनकी अनन्य निष्ठा, तत्-सुख-सुखित्व-भाव से ओत-प्रोत है अतः उनकी रुचि देख कर अपने हृदय को वज्रवत् कठोर बना कर अपने प्रेम को अवरुद्ध कर बड़े संतप्त मन से नन्द बाबा, ग्वाल-बाल के संग व्रज लौटने को तत्पर हो जाते हैं। उनके प्रस्थान से पूर्व श्रीकृष्ण नन्द बाबा के पास आकर उनको आश्वासन देते हैं—

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे॥२२॥

यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥२३॥

(भाग० १०.४५)

अर्थात्, जिन बालकों के पालन-पोषण में असमर्थ हो उनके स्वजन-सम्बन्धियों ने उनको त्याग दिया हो उनका अपने ही पुत्र की भाँति पालन करने वाले यथार्थतः उनके माता-पिता होते हैं। हे पिताजी! अब आप लोग व्रज लौट जाइये। इसमें सन्देह नहीं कि वात्सल्य-स्नेह के कारण हमारे बिना आप लोगों को बहुत दुःख होगा। यहाँ के अत्यावश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों को सम्पूर्ण कर, सुहृद-सम्बन्धियों को सुखी कर मैं आप लोगों से, अपनी जाति वालों से मिलने के लिए शीघ्र ही लौटूँगा—'एष्यामः' इस प्रकार के दौत्य वचन से गोपाङ्गनाओं को भी संकेत किया कि घबड़ायें नहीं, मैं अवश्य ही आऊँगा।

कंस-वध के कारण उसके पक्ष के जरासंध जैसे पराक्रमी अनेक राजा विरोधी हो गये; इन जटिल राजनैतिक समस्याओं के समाधान में श्रीकृष्ण अत्यन्त व्यस्त हो उठे। साथ ही, वसुदेव-देवकी की भी अनुमति नहीं मिल रही थी। उनको भय है कि नन्द बाबा और यशोदा रानी में, ग्वाल-बालों में, गोपाङ्गना-जनों में श्रीकृष्ण का परम अनुराग है अतः सम्भव है कि उनके अनुराग के वशीभूत हो वे मथुरा न लौटें। माता-पिता की आज्ञा बिना स्वधर्म-निष्ठ, सदाचारी, कर्तव्य-पालक, उज्ज्वल चरित्र-नायक श्रीकृष्ण तीव्र इच्छा करते हुए भी मर्यादा-निर्वाहार्थ व्रज नहीं जाते।

नन्द बाबा और यशोदा रानी भी विशेष आग्रह नहीं करते; वे अपने लाला कन्हैया के मंगल से ही सुखी हैं। उनको भय है कि यदि उनके आग्रह के कारण श्रीकृष्ण अपने माता-पिता, वसुदेव-देवकी की आज्ञा का उल्लंघन करेंगे तो उनका अमंगल होगा क्योंकि माता-पिता एवं गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन मंगल का विघातक और अमंगल का हेतु होता है। साथ ही, नन्द बाबा को यह भी आशंका है कि मेरे लाला ने कंस का वध कर दिया है अतः कंस के समर्थक जरासन्ध जैसे अनेक प्रतापी राजा उनके बैरी हो गये हैं। इस स्थिति में गोकुल गाँव में कन्हैया की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध सम्भव नहीं, जब कि मथुरा में सुरक्षा के सम्पूर्ण राजकीय उपकरण युक्त, सुदृढ़ दुर्ग एवं अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित विशाल सेना समुपस्थित है। अस्तु, कन्हैया की सुरक्षा एवं मंगल की दृष्टि से भी यही उचित है कि वे मथुरा ही रहें; भले ही हम लोगों को उनके वियोग-जन्य असह्य संताप को सहना पड़े।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस स्थिति में श्रीकृष्ण नन्द बाबा, यशोदा रानी एवं ग्वाल-बालों को अपने पास बुला सकते हैं। प्रकट लीलानुसार वसुदेव-देवकी तथा नन्द बाबा एवं यशोदा दोनों उभयत्र पितृ-मातृ-व्यवहार में स्वभावतः असामञ्जस्य हो जाता; फलतः सम्भव है कि कदाचित् नन्द बाबा और यशोदा रानी के मन में आ जाय कि वस्तुतः तो श्रीकृष्ण वसुदेव-देवकी के ही पुत्र हैं। ऐसे भाव के उदय होने पर उनके अस्मदीयत्व भाव का स्खलन हो जाता। प्रभु मेरे हैं या मैं प्रभु का हूँ। यह भावना ही महत्तम है; ऐसी महत् भावना जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों,कल्प-कल्पान्तरों के पुण्य-पुंज से बन जाती है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

अर्थात् हे प्रभो! सत्य ही आपके और हमारे बीच भेद तो नहीं है तो भी हम आपके हैं; जैसे समुद्र का ही तरंग कहा जाता है तरंग का समुद्र कदापि नहीं कहा जाता क्योंकि प्रधान में ही व्यपदेश होता है। अखिल ब्रह्माण्ड-नायक, सर्वेश्वर परमात्मा रूप महासमुद्र का ही जीव एक तरंग है अतः जैसे समुद्र के प्राधान्य के कारण तरंग समुद्र का कहलाता है वैसे ही हम भी आप के अंश, आपके ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८.६६)

अर्थात् सब धर्मों का परित्याग कर तुम मुझ एक अचिन्त्य, अखण्ड, आनन्दकन्द, परात्पर, परमानन्द की शरण में आ जाओ; मैं तुम्हारे सब पापों से तुमको मुक्त करूँगा; तू शोक मत कर। इसका विवरण करते हुए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः॥

शरणागति तीन प्रकार की होती है—साधन, अभ्यास और पाक। 'तस्यैवाहं' अर्थात् मैं सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान परम विभु परमात्मा का हूँ यह भाव ही साधन शरणागति है। भक्त-प्रवर तुलसीदासजी कहते हैं—

मोहिं तोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे-
जीव हौं तू ब्रह्म, तू ठाकुर हौं चेरो।

ब्रह्म और जीव के बीच अनेकानेक सम्बन्ध हैं। जिसको जो भाव रुचे वही मान ले। 'तस्यैवाहं' भाव ही नितान्त पुञ्जीभूत, दृढ़ीभूत होकर 'ममैवासौ' भगवान् मेरे हैं जैसे भाव में प्रस्फुटित हो जाता है; यही अभ्यास शरणागति है। भक्त कहता है—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

(कृष्णकर्णामृत ३.९४)

सूरदास जी भी कहते हैं—

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदय ते जब जाहुगे मरद बदौं गो तोहि॥

जैसे द्रवीभूत लाह में डाला गया रंग उसके अणु-परमाणु में ओत-प्रोत हो जाता है वैसे ही भक्त के भाव-प्रवण द्रवीभूत अन्तःकरण में ही भगवान् का आविर्भाव सम्भव होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षा के अणु-परमाणु में व्याप्त रंग-विशेष को उससे विलग कर देना कदापि सम्भव नहीं होता वैसे ही भक्त के भाव-द्रवित हृदय में प्रादुर्भूत भगवत्-स्वरूप के एक बार भक्त के हृदय में सुस्थिर हो जाने पर कदापि हृदय से विलग नहीं किया जा सकता। 'प्रणयरशनयाधृताङ्घ्रिपद्मः' प्रणय-रूप रशना, स्नेह रूप रज्जु से आबद्ध अपने चरणारविन्दों को छुड़ा लेने में स्वयं भगवान् भी समर्थ नहीं होते। अभ्यास द्वारा साधन का पूर्ण परिपाक होने पर 'सोऽहम् इत्येव' जो वह है वही मैं हूँ' जैसी परिपक्व शरणागति का उदय होता है। वृषभानुनन्दिनी राधा रानी इस भाव में ही प्रतिष्ठित थीं। प्रेम में उन्मत्त श्रीराधारानी कह रही हैं, सखी! देखो मैं हीं श्रीकृष्ण हूँ; मेरी चाल देखो। 'गीत-गोविन्द' कार जयदेव कहते हैं— 'मधुरिपुरहमिति भावनशीला' (सर्ग ६) मैं ही मधुरिपु श्रीकृष्ण हूँ' ऐसी भाववती हैं राधारानी। यही परिपक्व (पाक) शरणागति है।

'तदीयत्वम्' मैं भगवान् का हूँ अथवा 'मदीयत्वम्' भगवान् मेरे हैं, ये दोनों भाव अत्यन्त मधुर हैं। व्रजेन्द्रगेहिनी नन्दरानी यशोदा 'मदीयत्वं-भाव' परिपूर्ण हैं। वे निरन्तर चिन्तित रहती हैं कि मथुरा में मेरे लाला को कौन माखन-मिश्री देगा? कौन दूध-दही देगा? सूरदास जी तो कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने यशोदा मैया के लिए उद्धव द्वारा संदेश भेजा कि 'मैया! मेरी बंसी सम्हाल कर रखना; मेरे खिलौने सम्हाल कर रखना, कहीं राधा उनको चुरा कर न ले जावे। अम्ब! मेरी चिन्ता न करना; मैं आऊँगा, बहुत शीघ्र आऊँगा।

अस्मदीयत्वाभिमान भगवान् को बहुत प्रिय है; वे सदा उसकी रक्षा करते हैं। बालकृष्ण ने मिट्टी खायी; अपने लाला के अहित के भय से आशंकित यशोदा मैया हाथ में छड़ी लेकर मारने का डर दिखाती हुई डाँट रही हैं—'क्यों रे नटखट तूने मिट्टी खायी?' आँखों में आँसू भरे कन्हैया कह उठते हैं, 'ना माँ! मैंने मिट्टी नहीं खायी। बलदाऊ, ग्वाल-बाल सब झूठ बोलते हैं; मैंने मिट्टी नहीं खायी—ले मेरा मुँह देख ले।' अपने बालक के चाञ्चल्य को देखकर यशोदा मैया तुरन्त ही कह उठीं, 'तो लाला मेरे! मुँह खोल तो; देखूँ तो तूने मिट्टी खायी या नहीं?' कहते हैं 'मुखं स्वयमेव व्यादत्त' (१०.८.३६) सौकार्य की विविक्षा से कारकान्तर विवक्षित न होने पर कारकान्तर भी कर्ता-संज्ञा को प्राप्त होता है। भगवान् मुँह खोलना नहीं चाहते परन्तु मातृ-कोप रूप रवि-रश्मि से उनका मुख-कमल सहज ही विकसित हो गया। प्रभु के न चाहने पर भी उनके मुखारविन्द के विकसित हो जाने पर सेवा का अवसर प्राप्त होते देख ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति ने अपना प्रभाव दिखाया। यशोदा मैया को अपने लाला के मुख में सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च ही दिखायी दे गया। भय के कारण उनके हाथ से छड़ी छूट गयी और वे विचार करने लगीं—

किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥

(भाग० १०.८.४०)

अर्थात्, यह कोई स्वप्न है अथवा देवमाया है? अथवा मुझको ही भ्रम हो रहा है? अथवा इस बालक का ही कोई स्वात्म-वैभव है?

अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती।
गोप्यश्च गोपाः सह गोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः॥

(भाग० १०.८.४२)

अर्थात्, यह मैं हूँ, यह मेरा पति है, यह मेरा पुत्र है; मैं व्रजराज की समस्त सम्पत्ति की स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ; ये गोप-गोपियाँ और गोधन मेरे अधीन हैं ऐसी कुमति जिनकी माया से मुझको घेरी हुई है उन सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वर प्रभु को मैं नमस्कार करती हूँ।

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥

(भाग० १०.८०.४३)

यह मेरा बालक, मेरा पुत्र, मेरा लाला नहीं अपितु स्वयं अखिल ब्रह्माण्ड नायक, सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर प्रभु ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजराज गेहिनी,

यशोदा रानी को इस प्रकार का ज्ञान होने पर उनके हृदय में पुनः पुत्र-स्नेहमयी वैष्णवी माया का संचार कर दिया। ज्ञान के उदय होने पर यशोदा रानी का श्रीकृष्ण के प्रति पुत्र-भाव तिरोहित हो गया; पुत्र-भाव तिरोहित हो जाने पर बाल-लीला सम्भव नहीं हो पाती; भगवान् को बाल-लीला ही अभीष्ट है अतः अपनी वैष्णवी माया को प्रेरित कर नन्दरानी में पूर्ववत् पुत्र-स्नेह का प्रादुर्भाव किया। यशोदा मैया पुनः अपने लाला के संरक्षण एवं मंगल हेतु उपचार में प्रवृत्त हुई।

सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा॥

(भाग० १०.८.४४)

वैष्णवी-माया के प्रभाव से यशोदा रानी उस चमत्कार को भूल गयीं और लपक कर अपने लाड़ले को गोद में उठा लिया; उनके हृदय में पुनः पूर्ववत् पुत्र स्नेह हिलोरें लेने लगा।

अस्तु, 'अस्मदीय' भाव ही भगवान् को सर्वाधिक प्रिय है। नन्द बाबा, नन्दरानी, ग्वाल-बाल एवं व्रजाङ्गनाओं के अस्मदीयत्वाभिमान को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ही श्रीकृष्ण उनको मथुरा में निमन्त्रित नहीं करते।

मथुरा में वसुदेव-देवकी भी श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मान रहे हैं; रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ उनको अपने परम-प्रेमास्पद प्रियतम रूप में जान रही हैं; व्रज में नन्दबाबा, यशोदा रानी उनको अपना लाड़ला पुत्र मान रहे हैं; परमानुरागिनी गोपबालाओं की उनमें अखण्ड प्रीति है—श्रीकृष्ण ही उनके परम प्रेमास्पद हैं; इस स्थिति में उभयत्र अस्मदीत्वभाव की रक्षा अनिवार्य है।

स्यान्तः सौख्यं यदपि परमं गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे,
अप्राप्तेऽस्मित् यदपि नगरादार्तिरुग्राभवेन्नः।
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि,
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तन्निवासं करोतु॥

अर्थात्, श्रीकृष्णचन्द्र के गोष्ठ में, व्रज में आने से हम लोगों को अपार हर्ष होगा तथापि यदि इससे उनकी किञ्चित् क्षति की आशंका भी होती हो तो हम यह चाहते हैं कि वे यहाँ कदापि न आवें। वे जहाँ भी रहें, मंगल-पूर्वक, सुख-पूर्वक रहें। उनका सुख, उनका मंगल ही हमारा सुख, हमारा मंगल है। ऐसे तत्सुखसुखित्व-भाव से ओत-प्रोत भक्तों का अस्मदीयत्वाभिमान ही भगवान् को सर्वाधिक प्रिय है और वे सदा ही उसकी रक्षा करते हैं।

व्रज के सिद्धान्तानुसार भगवान् की लीला दो प्रकार की होती है—एक प्रकट और दूसरी अप्रकट। प्रकट-लीलान्तर्गत अवतरित रूप में अखिल-ब्रह्माण्ड नायकत्व का ज्ञान और दर्शन सर्व-साधारण के लिए भी सम्भव होता है। मूलतः जन्म-जन्मान्तरों की पूँजीभूत तपस्या ही भगवत् स्वरूप-दर्शन का हेतु है तथापि तात्कालिक व्यवहार रूप में विशिष्ट तपस्या की अपेक्षा नहीं होती। उदाहरणार्थ, अखिल ब्रह्माण्ड-नायक, मर्यादा-पुरुषोत्तम राघवेन्द्र रामचन्द्र के दर्शन ऋषि-मुनियों एवं जन-सामान्य, सबके लिए समान रूप से सुलभ थे। इसी तरह, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्र-नन्दन रूप में सर्व-सुलभ हैं; यहाँ तक कि पुलन्दियों और हरिणियों को भी उनके दर्शन होते हैं।

धन्याः स्म मूढमतयोपि हरिण्य एता।
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः।
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥

(भाग० १०.२१.११)

अर्थात्, ये मूढ़मति कृष्णसार हरिणियाँ धन्य-धन्य हैं जो नन्दनन्दन का विचित्र वेश में, त्रिभंगी मुद्रा में वेणु-वादन करते हुए मुग्ध-भाव से देख रही हैं मानो अपने प्रणयावलोकन, स्नेह-स्निग्ध दृष्टि से ही पूजा निवेदित कर रही हैं—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय पदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तन्मण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषुजहुस्तदाधिम्॥

(भाग० १०.११.१७)

अर्थात्, ये किराতनियाँ धन्य हैं जो भगवान् के मंगलमय चरणारविन्दों में लगे चन्दन एवं कुंकुम से रूषित (मिश्रित) दूर्वा का दर्शन एवं संस्पर्श कर आनन्दमग्न हो उठती हैं और अत्यन्त स्नेह के साथ उस चन्दन एवं कुंकुम को अपने स्तनों पर लगाती हैं।

अप्रकट लीलान्तर्गत भगवत्-दर्शन परम अन्तरंग जनों के लिए ही सम्भव होते हैं। जैसे निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म सर्वव्यापक है वैसे ही भगवान् का सगुण-साकार, सच्चिदानन्दघन स्वरूप भी सर्वव्यापक है तथापि वह माया-जवनिका से आच्छादित है। माया-जवनिका के अपसारण से ही भगवत्-स्वरूप का प्राकट्य, साक्षात्कार सम्भव है। परीक्षित् ने गर्भ में ही भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया। उन्होंने अनुभव किया कि कोई तेजोमय, प्रकाशमय, परमपुरुष

अपने चक्र के तेज से ब्रह्मास्त्र का विधूनन करते हुए अपनी अमृत-वर्षिणी कृपा-दृष्टि से मुझको प्लावित कर रहा है। गर्भ से बाहर आने पर भी वे जो कुछ सामने आता है उसमें सदा-सर्वदा उस स्वरूप की ही परीक्षा करते हैं। सदा-सर्वदा उस स्वरूप की ही परीक्षा करते रहने के कारण वे परीक्षित् नाम से आख्यात हुए। श्यामसुन्दर, नन्दनन्दन-स्वरूप में दर्शन होते ही उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को पहचान लिया।

भगवान् की भाँति ही उसकी प्रत्येक लीला भी नित्य है; यद्यपि लीलाएँ परिकर-स्वरूपिणी क्रिया-मात्र ही हैं। सामान्यत: क्रिया कदापि नित्य नहीं हो सकती तथापि लीला-क्रिया प्रवाहरूप से नित्य एवं सुस्थिर मानी जाती हैं। जैसे समुद्र की तरंग समुद्र से अभिन्न हैं वैसे ही अचिन्त्य, अनन्त, सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन, सुधा-सिन्धु की तरंगायिता, तरंग-रूप लीलाएँ भी तदभिन्न ही हैं। भगवदनुग्रह से ही लीला का साक्षात्कार सम्भव है।

प्रश्न है कि 'स भगव: कस्मिन् प्रतिष्ठित इति' (छा० उ० ७.२४.१) वह अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक सर्वेश्वर प्रभु कहाँ विराजमान होते हैं? यद्यपि 'मूले मूलंमा वादमूलं मूलं' (सां० सू० १.६७) परम मूल का कोई मूल नहीं होता, वह अमूल ही होता है तथापि औपाधिक भेद से आधाराधेय की कल्पना कर ली जाती है। अतएव उत्तर है कि 'स्वे महिम्नि' वे स्वयं अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होते हैं। कार्य-कारणातीत ब्रह्म भी कार्यब्रह्म में, अक्षरब्रह्म में प्रतिष्ठित है। 'अक्षरात् परत: पर:' (मुण्डक० २.१.२) भगवान् पर अक्षर से भी परे हैं। पर अक्षर ही भगवान् का आधार, व्यापी बैकुण्ठ है; इस आधार पर ही कार्य-कारणातीत भगवान् आधेय रूप में अधिष्ठित होते हैं। अत: धाम, लीला-उपकरण सभी भगवत्-स्वरूप ही हैं।

जैसे अनन्त आकाश के एक देश में बादलों की कोई छोटी-सी टुकड़ी दीख जाती है वैसे ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्डाधीश, स्वप्रकाश ब्रह्म के एक देश में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोत्पादिना शक्ति विराजमान रहती है। इस शक्ति से ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते रहते हैं। कारण, कार्य में व्यापक होता है अत: अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जितने भी तत्त्व हैं सब में उनकी उत्पादिनी शक्तियाँ अनुस्यूत रहा करती हैं। यह शक्ति व्यापिका है; इसके अनेक रूप हैं। आह्लादिनी शक्ति के द्वारा भगवान् सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन स्वरूप धारण करते हैं। यह मान्य है कि अविद्यावच्छिन्न में ही अविद्या का निवास होता है। स्वयं अविद्या ही उसको अवच्छिन्न कर तत्-तत् प्रकार के देश की कल्पना करता है; साथ ही स्वयं भी तत्-तत् प्रदेश में रहती है। शास्त्र कहता है 'अविद्यामाश्रित्यैव अविद्या परिकल्प्यते' अविद्या में रहकर ही अविद्या की

कल्पना की जा सकती है। 'स्वपर-निर्वाहकानां भावानां बहुलमुपलब्धि:' बहुत से ऐसे भाव हैं जो 'स्व' और 'पर' दोनों के निर्वाहक होते हैं। नैय्यायिकों का सिद्धान्त है कि आत्मा स्वव्यतिरिक्त ज्ञेय को भी और स्वरूप को भी जानता है; जैसे भेद भेद्य को भी भिन्न करता है और अपने आप को भी भिन्न करता है वैसे ही अविद्या ही विभिन्न कार्यों का मूल होती है, साथ ही स्वकल्पना की भी मूल होती है।

भेदं च भेद्यं च भिनत्ति यथैव भेदान्तरमन्तरेण।
मोहञ्च कार्यं च बिभर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेण॥

(संक्षेप शारीरक १.५५)

अप्रकट लीला का एक और भी अभिप्राय है। 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन को छोड़ कर एक पग भी कहीं नहीं जाते। अत: वृन्दावन धाम की लीला नित्य है। यह नित्यलीला भी यदा-कदा प्रकट हो जाती है। गोपाङ्गनाओं के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति है 'भवतीनां वियोगा मे नहि सर्वात्मना क्वचित्' (१०.४७.२९) मुझ सर्वात्मा का कदापि तुमसे वियोग नहीं होता। जब अक्रूरजी श्रीकृष्ण एवं बलराम को लेकर मथुरा जा रहे थे तो सन्ध्या का अवसर उपस्थित होने पर उन्होंने यमुना-पुलिन पर रथ को रोक लिया—

अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत्॥ ४०॥
निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम्।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ॥ ४१॥
तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभे:।
तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युवन्मज्ज्य व्यचष्ट स:॥ ४२॥
तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव स:।
न्यमज्जद् दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयो:॥ ४३॥
भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम्।
सिद्ध - चारण - गन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरै:॥ ४॥

(१०.३९)

अर्थात्, अक्रूरजी श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयों को रथ पर बैठा कर उनसे आज्ञा लेकर यमुनाजी के कुण्ड (अनन्त-तीर्थ या ब्रह्मह्रद) में स्नान करने लगे। वे जल में डुबकी लगाकर गायत्री का जप करने लगे। उस समय

उन्होंने देखा कि दोनों भाई जल के भीतर विराजमान हैं; अतः उनको शंका हुई कि मैं तो वसुदेवजी के दोनों पुत्रों को रथ पर बैठा कर आया था; ये यहाँ कैसे आ गये? सम्भवतः वे रथ पर न हों। ऐसा विचार करते हुए उन्होंने अपना सिर जल से उठाकर बाहर देखा, दोनों भाइयों को पूर्ववत् रथ पर बैठे देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। सम्भवतः मुझको ही भ्रम हो गया है—ऐसा मानकर उन्होंने पुनः जल में गोता लगाया; इस बार उन्होंने देखा कि साक्षात् अनन्तदेव श्रीशेषजी विराजमान हैं और सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि अपने सिर को झुकाये हुए उनकी स्तुति कर रहे हैं।

तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम्॥

(भाग० १९.३९.४६)

अर्थात्, अक्रूरजी ने देखा कि शेषजी की गोद में श्याम मेघ के समान कान्तिवान् श्रीकृष्ण विराजमान हो रहे हैं। वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं; उनकी बहुत ही शान्त चतुर्भुज मूर्ति है; उनके नेत्र कमल के रक्त दल के समान रतनारे हो रहे हैं—

विलोक्यं सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः॥ ५६॥
गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः॥ ५७॥

(भाग० १०.३९)

भगवान् की ऐसी अनुपम झाँकी के दर्शन से अक्रूरजी परमानन्द से ओत-प्रोत हो उठे; उनका शरीर आनन्दावेश से पुलकित हो गया; आँखें प्रेमाश्रु से परिपूरित हो गयीं; उनको परम भक्ति प्राप्त हुई। भाव-विह्वल हो वे स्तुति करने लगे। ऐसे समय में भगवान् ने अपने उस स्वरूप को छिपा लिया; जैसे कोई नट मञ्च पर कोई विशिष्ट स्वरूप को दिखा कर उसको पर्दे की ओट में छिपा देता है। भगवान् के उस स्वरूप के अन्तर्धान होने पर अक्रूरजी जल से बाहर निकल रथ के पास लौट आये। वे उस समय बहुत ही विस्मित हो रहे थे। श्रीकृष्ण उनसे पूछ रहे हैं—

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टामिवाद्भुतम्।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे॥

(भाग० १०.४१.३)

अर्थात् चाचाजी! आपने पृथ्वी, आकाश या जल में कोई अद्भुत वस्तु देखी है क्या? आपकी आकृति देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है।

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः॥४॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम्॥५॥

(भाग० १०.४१)

अर्थात्, अक्रूरजी कह रहे हैं, हे प्रभो! पृथ्वी, आकाश, जल अथवा सम्पूर्ण जगत् में जहाँ जो कुछ भी अद्भुत पदार्थ हैं वे सब आप में ही हैं क्योंकि आप विश्वरूप हैं। जब मैं आपको ही देख रहा हूँ तब ऐसी कौन-सी वस्तु रह जाती है जो मैंने न देखी हो। तात्पर्य यह कि प्रकट लीला में भगवान् साक्षात् ही विराजमान होते हैं परन्तु अप्रकट-लीला में आश्रय-रूप में विराजमान होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने नन्दनन्दन बालकृष्ण स्वरूप से व्रज में ही निरन्तर स्थिर रहते हुए भी चतुर्भुज वासुदेव रूप से मथुरा में पदार्पण किया।

रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, वल्लभाचार्य आदिकों ने बड़े समारोह के साथ इसको उद्धृत किया है। अन्तःकरण में ही ब्रह्म का प्राकट्य होता है। अन्तःकरण की परम ब्रह्मकारावृत्ति ही अन्तःकरण में परब्रह्म का प्राकट्य है। वसुदेव अन्तःकरण-स्वरूप ही है; अन्तःकरण, मन, चित्त, अहंकार ही चतुर्व्यूह स्वरूप वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध माने जाते हैं। अन्तःकरण विशिष्टोपलक्षित चैतन्य ही श्रीकृष्ण है। जिस समय वसुदेव श्रीकृष्ण को नन्दभवन ले गये, उनका वासुदेव-स्वरूप नन्दनन्दन-स्वरूप में अन्तर्लीन हो गया। अतः नन्दभवन में नन्दात्मज का ही प्रादुर्भाव हुआ। तात्पर्य कि भाव-रूप अन्तःकरण में वसुदेव-रूपी अनुष्ठान से नन्दनन्दन ब्रह्म का आविर्भाव हुआ।

श्रीकृष्ण भावात्मा हैं; 'कृषिर्भू-वाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः' अर्थात्, कृष् 'भू' वाचक है; 'भू' का अर्थ है 'भाव'; अतः 'कृष्' शब्द भाव-वाचक हुआ। द्रवीभूत अन्तःकरण में तत्-तत् विषयों का स्थायित्व ही 'भाव' है। अन्तःकरण के द्रवीभूत हुए बिना विषय का स्थायित्व असम्भव है। 'ण' आनन्द-वाचक है। भावाभिन्न आनन्द अथवा आनन्दाभिन्न भाव ही श्रीकृष्ण हैं।

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानाम् एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम्।
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनां श्यामीभूतं ब्रह्म में सन्निधत्ताम्॥

अर्थात् गोपाङ्गनाओं का पुञ्जीभूत प्रेम ही आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र-स्वरूप में प्रकट हो गया; अभिप्राय यह है कि वसुदेव-अन्तःकरण में ही स्थायी भाव-रूप श्रीकृष्ण का प्राकट्य हो गया। अतः अप्रकट रूप में वे सदा ही गोकुल में विराजमान रहते हैं तथापि प्रकट रूप में व्रजवासियों को उनका विप्रलम्भ अनुभूत हुआ। जैसे जल और उसकी तरंग सदा सर्वदा अभिन्न हैं वैसे आनन्द-समुद्रस्वरूप श्रीकृष्ण एवं उनकी तरंग-रूप गोपाङ्गनाएँ जन भी सर्वथा अभिन्न हैं। जैसे जल की शीतलता-मधुरता जल के अन्तर्लीन हैं, वैसे ही वृषभानुनन्दिनी, नित्यनिकुंजेश्वरी, राधारानी आनन्द-सुधा-सिन्धु श्रीकृष्ण की माधुर्य-सार-सर्वस्व ही हैं। अस्तु, गोपाङ्गनाजनों एवं राधारानी से श्रीकृष्ण का विप्रलम्भ कदापि सम्भव नहीं तथापि लीला-विशेष-विकास हेतु मोहिनी शक्ति द्वारा विप्रलम्भ की प्रतीति होती है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर॥

श्रीचरणों में शतशः नमस्कार स्वीकार हो!

१

उद्धव की व्रजयात्रा एवं नन्द-यशोदा के साथ संवाद

यदुवंशियों का, धर्म का, सभ्यता-संस्कृति का हित समझकर भगवान् श्रीकृष्ण इच्छा करते हुए भी, व्रज में अत्यन्त प्रीति रखते हुए भी स्वयं व्रज नहीं जा पाते। अत: अपने परम अन्तरंग सखा उद्धव को ही अपना सन्देश देकर भेजते हैं।

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥

(१०.४६.१.)

अर्थात् उद्धवजी वृष्णिवंशियों के प्रधान पुरुष थे। वे साक्षात् बृहस्पति के शिष्य एवं परम बुद्धिमान् थे। साथ ही, वे श्रीकृष्ण के स्नेहास्पद एवं अत्यन्त कृपापात्र, 'दयित सखा' और मंत्री भी थे। उद्धव का तात्पर्य है उत्सव। देवी-देवताओं से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के उत्सवों के अधिष्ठाता दैवत ही उद्धव हैं, अत: वे परम अन्तरंग हैं। वक्ता के महत्त्व पर ही कथन की प्रामाणिकता निर्भर करती है। उत्तरदायी व्यक्ति द्वारा कही गयी बात ही मान्य होती है। एतावता वृष्णि-वंशियों के प्रधानपुरुष उद्धव को ही सन्देश-वाहक बनाया गया। सन्देश-वाहक का बुद्धिमान् एवं विद्यावान् होना भी अपेक्षित है। साक्षात् बृहस्पति के शिष्य होने के कारण वे उत्तम बुद्धिवाले, अनेक विद्या-विशारद एवं परम ज्ञानी हैं। ऐसे परम ज्ञानी उद्धव को अपना सन्देश-वाहक बनाकर गोपाङ्गना जनों के पास भेजने में श्रीकृष्ण का एक और भी उद्देश्य है। उद्धवजी अनेक विद्या-विशारद होते हुए भी श्रीकृष्ण को वशीभूत करने-वाली विद्या से सर्वथा अपरिचित हैं। गोपाङ्गनाएँ प्रेम-मार्ग की आचार्या हैं। अत: कृष्णानुरागरूप विद्या को प्राप्त करने के लिए ही उद्धव को उनके पास भेजा गया। उद्धवजी मन्त्री भी हैं। समयानुसार सम्यक् प्रकार से कही गयी बात प्रभावशाली होती है। शुक्रनीति है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः॥

अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो, ऐसा कोई मूल नहीं जो औषध न हो और ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो योग्य न हो, तथापि प्रत्येक की विशेषता को समझते हुए उनका उचित विनियोग करने वाला व्यक्ति ही दुर्लभ है (एक अक्षर के परिवर्तन से भी किसी उक्ति का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणतः 'नदी' और 'दीन' शब्द, एक है सरिता-वाचक और दूसरा दरिद्रता-वाचक)। अस्तु, समय और पात्र के अनुसार शब्दों का सम्यक् चयन करते हुए कही गयी बात ही यथोचित प्रभावशाली होती है। उद्धवजी परम कुशल मन्त्री हैं, वे भिन्न-भिन्न जनों को भिन्न-भिन्न प्रकार का सन्देश सम्यक् प्रकार से दे सकेंगे। वे श्रीकृष्ण के दयित सखा, परम कृपापात्र एवं प्रिय मित्र भी हैं। नन्दबाबा, यशोदा मैया, ग्वाल-बाल, परमानुरागिणी गोपाङ्गनाएँ और नित्य-निकुञ्जेश्वरी राधारानी जैसे अन्तरंग और परमान्तरंग स्वजनों के लिए किसी परमान्तरंग स्वजन द्वारा ही सन्देश भेजा जा सकता है। सभी दृष्टि से उद्धव जी श्रीकृष्ण के परम अन्तरंग सखा हैं। अतः वे ही परम उपयुक्त सन्देश-वाहक हैं।

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥ *(१०.४६.२)*

अर्थात् शरणागतों के सम्पूर्ण दुःख हो हर लेने वाले हरि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा उद्धव के हाथों को अपने हाथों में लेकर कहा।

'प्रपन्नार्तिहरो हरिः' श्रीकृष्ण शरणागत की आर्ति हरण करने वाले हैं। जैसे तरंग समुद्र में और घटाकाश महाकाश में अन्तर्लीन हो जाता है वैसे ही सम्पूर्ण व्यष्टि उपाधियों को समष्टि में प्रविलीन कर देना उपाध्यवच्छिन्न चैतन्य को शुद्ध अनवच्छिन्न चैतन्य में प्रविलीन कर देना, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार से विनिर्मुक्त पञ्चकोशातीत प्रत्यक् चैतन्य आत्मा को जान कर अखिल ब्रह्माण्डाधीश, स्वप्रकाश, परात्पर, परब्रह्म में तादात्मम्यभाव का सम्पादन कर लेना ही शुद्ध प्रपत्ति, प्रकृष्ट प्रपत्ति है। ऐसी प्रपत्ति अत्यन्त दुर्लभ है। 'तवास्मीति च याचते' हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ, ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी प्रपत्ति बन जाती है। वाल्मीकि रामायण के अन्तर्गत राघवेन्द्र रामचन्द्र की उक्ति है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ *(६.१८.३३)*

अर्थात् भगवान् राम कह रहे हैं कि मेरा व्रत है कि जो एक बार भी हे प्रभो! मैं आपका हूँ ऐसा मान लेता है, उसको मैं सम्पूर्ण भयों से मुक्त कर अभय कर देता हूँ।

'प्रेष्ठम्'—उद्धवजी प्रपन्नार्तिहर हरि, भगवान् श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्रिय हैं, वे वसुदेव के छोटे भाई देवभाग के पुत्र हैं, अतः श्रीकृष्ण के चचेरे भाई भी हैं। 'भक्तमेकान्तिनम्' उद्धवजी श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त भी हैं। 'बाल्यमारभ्य भगवद्भक्तः' वे बाल्य-काल से ही अनन्य भगवद्भक्त भी हैं। सर्वाश्रय-विवर्जित होकर एकमात्र भगवान् पर ही अवलम्बित रहते हुए उनके ही प्रेम में निमग्न भक्त ही अनन्य-निष्ठ है। ऐसे अपने निकट-सम्बन्धी, परम-बुद्धिमान्, अनेक विद्या-विशारद, परम प्रिय मित्र एवं अनन्य भक्त उद्धव के हाथों को अपने हाथों में लेकर भक्तों की आर्तिहरण करने वाले, शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥

(१०.४६.३)

हे सौम्यस्वभाव उद्धव! तुम व्रज जाओ, वहाँ मेरे वियोगरूप आधि से सन्तप्त हमारे माता-पिता और गोपाङ्गनाओं को मेरा सन्देश देकर व्यथा-मुक्त करो। नन्दबाबा और यशोदारानी श्रीकृष्ण के पिता-माता नहीं हैं, तथापि अत्यन्त अभिन्नता व्यक्त करते हुए उन्होंने 'पित्रोर्नौ' जैसा प्रयोग किया है।

'प्रीतिमावह-प्रीतिं बलात् आनय।' मेरे वियोगाधि से अत्यन्त संतप्त उन सबको तुम अपने विशेष गुणों से प्रभावित कर सान्त्वना देने का प्रयास करना।' 'मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय' वे सब मेरे वियोगजन्य आधि से पीड़ित हैं। आधि भी एक तरह की हृद्-ग्रन्थि, मानसिक उलझन ही है। उनकी इस आधि का तुम मेरे सन्देश द्वारा विमोचन करना।

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

(१०.४६.४)

उनका मन निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है; उनका जीवन, उनके प्राण, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ। मेरे लिए ही उन्होंने अपने प्रिय पति-पुत्रादिकों का भी त्याग कर दिया है। उन्होंने मन-प्राण से मुझको अपना प्रियतम, अपना आत्मा मान लिया है। मेरा यह व्रत है कि जो मेरे लिए सम्पूर्ण लौकिक एवं पारलौकिक प्रेय एवं श्रेय का त्याग कर देते हैं उनका मैं सर्व प्रकार से भरण-पोषण करता हूँ। 'मनमनस्का' उनका मन अहर्निश निरन्तर मुझमें ही संलग्न रहता है। 'मत्प्राणाः' उन्होंने मेरे निमित्त मेरे दर्शनों की लालसा से ही प्राण धारण किया हुआ है। 'गोपीगीत' के अन्तर्गत गोपियाँ कहती हैं, 'त्वयि धृतासवः' (१०.३१.१) हम लोग तुम्हारे लिए ही प्राण धारण की हुई हैं। 'भवदायुषां नः (१०.३१.१९) हमारी

आयु के आधार भी आप ही हैं। एतावता आपके दर्शन की सम्भावना के अन्त होने के साथ-ही-साथ हमारी आयु भी समाप्त हो जायगी। 'भवानेव आयुर्यासाम्' विधाता ने हमारे प्राणों की कुञ्जी आपको सौंप दी है। अतः आपके वियोगाधि से अत्यन्त संतप्त होते हुए भी हमको जीवन धारण करना पड़ रहा है।

'मत्प्राणाः' का एक और भी अर्थ है, 'मत्प्राणा यासु ता मत्प्राणाः' मेरे प्राण हैं जिनमें। तात्पर्य है कि गोपाङ्गनाजनों का मुझमें अनुराग इतना अद्भुत है कि मेरे प्राण उनमें निहित हो गये हैं, अर्थात् वे मुझमें तन्मय हो गयी हैं। वल्लभाचार्यजी कहते हैं—

'सर्वेषां आत्मा त्वम्' भगवान् सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा हैं, भगवान् अंशी हैं, प्राणिमात्र उनके अंश हैं। अतः अंशभूत किसी जीव का अपमान करने वाले की पूजा भगवान् को स्वीकार नहीं होती। 'नाना विधञ्च नैवेद्यं केशवं नापि तोषयेत्' नानाविध नैवेद्य से भगवान् तुष्ट नहीं होते। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उत्पत्ति-विशिष्ट अंग हैं। 'बहिर्मुखानि चेन्द्रियाणि स्वभावतः' स्वभावतः ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, इनको सांसारिक कार्य-कलापों से निवृत्त कर नारायण-परायण कर देने में ही देहादि भी भगवदीय हो जाते हैं। दैहिक सम्बन्धों एवं दैहिक धर्मों का परित्याग कर एकमात्र नारायण-परायण हो जाना ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि संघात असंहत, स्वप्रकाश, सुख-दुःखातीत, असंग चेतन के लिए ही है, ऐसी अनन्य निष्ठा जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुंज के उदित होने पर ही सम्भव होती है। 'मदर्थे त्यक्तदैहिकाः' मेरे लिए ही उन्होंने अपने सम्पूर्ण देह-सम्बन्धों का त्याग कर दिया है।

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥

(भाग० ११.११.३२)

वैदिक स्वधर्मानुष्ठानों के गुण-दोषों को सम्यक् प्रकार जानते हुए भी जो एक मात्र मेरा भजन करता है, मेरी शरण में आ जाता है वह श्रेष्ठ है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८.६६)

इन सभी कथनों का यह अभिप्राय नहीं कि सहसा ही स्वधर्मानुष्ठान त्याग दिया जाय, किन्तु—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठोप० २.३.१०)

वैदिक कर्मानुष्ठान, स्वधर्मानुष्ठान करते-करते जब इन्द्रियाँ संयत हो जायँ तब सम्पूर्ण कर्म का तात्पर्य सफल हो जाता है। जैसे बरस जाने के बाद बादल का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है वैसे ही भगवत्-चरणों में अनन्य निष्ठा के प्रादुर्भूत होने पर कर्म का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। 'कर्मभिः कर्मनिर्हारः' नैष्कर्म्य-सिद्धि के लिए ही समस्त कर्मों का विधान है। कर्म के द्वारा ही कर्म का निर्हार होता है।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

(११.३.४६)

निस्संग बुद्धि से वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करते-करते नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसे 'कण्टकेन कण्टकोद्धारः' अथवा 'विषस्य विषमौषधम्' ऐसे ही पाशविककर्म-ज्ञान की निवृत्ति के लिए वैदिक काम-कर्मज्ञान का अवलम्बन किया जाता है। स्वधर्मानुष्ठान करते-करते क्रमशः स्वाभाविक अवस्था बन जाती है।

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

(४.२९.४६)

भगवान् का विशेष अनुग्रह होने पर लोक और धर्म में परिनिष्ठित बुद्धि को त्यागकर प्राणी ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। यहाँ लोक का अभिप्राय लौकिक सुख-साधन, धन-ऐश्वर्य, पति-पुत्रादि और 'भेद' का अभिप्राय वैदिक कर्म-काण्ड है।

यदा मद्धस्तस्थं वस्तु न केनापि उपहन्तुं शक्यते।

मेरे हाथ में रहने वाली वस्तु का कोई भी उपहनन नहीं कर सकता।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९.२२)

अनन्यभावसे मेरा चिन्तन-भजन करते हुए अपने योगक्षेम के लिए स्वयं कुछ प्रयत्न न करते हुए जो मेरा भजन करते हैं; नित्य आदरपूर्वक भजन में लग जाते हैं, उनका मैं स्वयं ही योगक्षेम पूर्ण करता हूँ।

राघवेन्द्र रामचन्द्र भी कह रहे हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन सहित सुहृद परिवारा॥
सब कर ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि वर डोरी॥

समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरस सोक भय नहिं मन माँही॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥

(श्रीरामचरितमानस)

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

(गीता ९.२९)

जो मुझको भक्तिपूर्वक भजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४.११)

जो जिस भाव से मुझको भजता है मैं भी उसको उसी भाव से भजता हूँ।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः

(११.१४.१६)

निरपेक्ष (परम त्यागी), शान्त, समदर्शी, निष्काम, भगवत्-परायण की चरण-रेणु से पवित्र होने के हेतु से मैं स्वयं उनका अनुगमन करता हूँ।

गाँठी तो बाँधै नहीं, माँगत हूँ सकुचाँहि।
उनके पीछे हरि फिरैं, कहीं भूखे ना रह जाँहि॥

अनन्य-निष्ठ भक्त की बड़ी महिमा है। गोपाङ्गनाजन तो प्रेम मार्ग की आचार्या ही हैं।

मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः

(१०.४६.४)

वे मुझ सर्वात्मा को ही अपना प्रेमास्पद, पति मानती हैं, संपूर्ण सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध सोपाधिक होते हैं। तात्पर्य है कि मूलतः स्वमुख के हेतु में स्नेह अथवा प्रेम का आभास होता है। निरुपाधिक, निरतिशय प्रेम का आस्पद एकमात्र आत्मा ही होता है। आत्मा में प्रेम स्वाभाविक होता है। अतः वह तारतम्य और सीमारहित है। गोपाङ्गनाएँ मुझको अपना आत्मा ही मानती हैं। अतः मैं ही उनके निरुपाधिक निरतिशय प्रेमका आस्पद हूँ। उनकी मुझमें स्वभाव-जन्य प्रीति है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपारायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(६.१४.५)

कोटि-कोटि मुक्तजनों में भी, कोटि-कोटि सिद्ध-जनों में भी नारायण-परायण व्यक्ति का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। मुक्त-जन, सिद्ध-जन आदि भी

निस्सन्देह नारायण-भक्त हैं, तथापि वे नारायण-परायण भी हों यह अनिवार्य नहीं। 'नारायण एव परम् अयनं ध्येयं ज्ञेयं परमाराध्यं तदितरत् किञ्चिदपि नास्ति येषां' अर्थात् नारायण ही जिनके एकमात्र ध्येय, ज्ञेय एवं परमाराध्य हैं; जिनकी बुद्धि में नारायण से इतर अन्य कुछ है ही नहीं वही व्यक्ति नारायण-परायण है। यही रागानुगा प्रीति है। जैसे ग्रह-ग्रस्त प्राणी सर्वथा परतन्त्र हो जाता है वैसे ही कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा भी कृष्णाधीन हो जाता है, अतः वह जगत् को ही कृष्णमय देखने लगता है। यही रागानुगा प्रीति का स्वरूप है।

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनोधित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

(विदग्धमाधव)

अर्थात् मुनीन्द्र, योगीन्द्र-जन भी यम-नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार के द्वारा ध्यान, धारणा, समाधि के द्वारा, अष्टांग योग के द्वारा संसार से मन हटाकर नारायण-स्वरूप में क्षणभर के लिए भी लग जाय, ऐसा प्रयास करते रहते हैं, परन्तु प्रेमपगी ये गोपाङ्गनाएँ तो अपने मन को कृष्ण से ही हटाकर संसार में लगाने का प्रयत्न करती हैं ताकि कृष्णवियोग-जन्य-वेदना से क्षणमात्र के लिए भी कुछ राहत मिले 'ता मन्मनस्काः' (१०.४६.४) उनका संकल्प-विकल्पात्मक मन मुझमें ही प्रतिष्ठित है।

गायन्ति गोप्यो जनितानुरागाः गोविन्द दामोदर माधवेति।
उलूखले सम्भृत-तण्डुलांश्च संघट्टयन्त्यो मुसलेन गोप्यः॥

उलूखल में धान कूटते हुए, दधि-मन्थन करते हुए, या ऐसे ही अनेक सांसारिक कार्यों को करते हुए भी गोपाङ्गनाएँ अनन्य अनुरागपूर्वक श्रीकृष्ण, दामोदर, माधव नाम की ही रट लगाये रहती हैं; यही उनकी विशेषता है। 'ताः अनिर्वचनीयाः' वे अनिर्वचनीय हैं। 'तत्त्वान्यत्वाभ्यां निर्वक्तुमनर्हाः' जगत् अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह न तत्त्व है और न अतत्त्व। उसका बाध हो जाता है अतः वह तत्त्व नहीं हो सकता, तथापि उसकी प्रतीति होती है, अतः अतत्त्व भी नहीं हो सकता। ब्रह्म भी अनिर्वचनीय है, क्योंकि मन-वाणी से अगोचर है। गोपाङ्गनाएँ भी अनिर्वचनीय हैं क्योंकि; उनका लोकोत्तर चरित्र, उनके लोकोत्तर कल्याण-गुणगण, उनकी अद्‌भुत महिमा मनसा-वाचा अगोचर है।

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥

(भाग० १०.४६.५)

मैं ही उनका परम प्रियतम हूँ; मेरे यहाँ चले आने से वे मुझको दूरस्थ मान रही हैं और मेरा स्मरण करती हुई बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं। वे अत्यन्त मोहित हो रही हैं, मेरे विरह-जन्य वेदना से अत्यन्त व्यथित एवं विह्वल हो रही हैं, वे मेरे लिए प्रतिक्षण उत्कण्ठित हो रही हैं।

'मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे' (१०.४६.५) 'बहूनां प्रेयसां मध्ये अतिशयेन प्रिय इति प्रेष्ठः' अनेक प्रेयों में जो अतिशय प्रिय हो वही प्रेष्ठ है। प्राणिमात्र के लिए देहादिक लौकिक-विषय ममता के विषय होते हैं तथापि सर्वाधिक प्रेयान् स्वात्मा ही है। वेदान्त सिद्धान्तानुसार भी अहमर्थ आत्मा नहीं माना जाता। जीव भी आत्मा नहीं है; एकमात्र सर्वेश्वर प्रभु ही सर्वात्मा है। गोपाङ्गनाओं के लिए देहादि ममता के आस्पद और अहंता आत्मा सबसे अधिक मैं ही प्रेयान् हूँ।

'दूरस्थे गोकुलस्त्रियः' (१०.४६.५) जिन्होंने मुझको प्रेष्ठ्यरूप से निश्चित कर लिया है उन गोकुल की स्त्रियों से मैं दूर हो गया हूँ। स्त्रियाँ स्वभावतः अनुरागिणी होती हैं। गोकुल भी स्वभावतः प्रेम-प्रधान जगत् है। अतः वहाँ की स्त्रियाँ विशेष अनुरागवती हैं। मुझको अपना प्रेष्ठ मानने वाली इन विशिष्ट अनुरागवती गोकुल गाँव की स्त्रियों से मैं वियुक्त हो गया हूँ।

'स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति' (१०.४६.५) हे अङ्ग! वे मेरा स्मरण कर बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं। वल्लभाचार्यजी के अनुसार भीषण प्रहार से ही मूर्च्छा सम्भव होती है। श्रीकृष्ण-सम्मिलन की सम्भावना के अभाव में जो विशिष्ट स्मरण बना वही गोपाङ्गनाजनों के लिए कोटि-कोटि वज्रपात-तुल्य हुआ, परिणामतः वे मूर्च्छित हो गयीं। श्रीकृष्ण उद्धव के प्रति 'हे अंग!' जैसा सम्बोधन करते हैं। 'अंग' सम्बोधन अतिशय मधुर भाव का द्योतक है। इस सम्बोधन से यह प्रतिभासित होता है कि गोपाङ्गनाओं का वर्णन करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण भी भाव-विह्वल हो उठे हैं।

'विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः' मेरे विरह-जन्य व्यथा से अत्यन्त संतप्त हो वे जिस किसी तरह जीवन ढो रही हैं। श्रीधर स्वामी के कथनानुसार गोपाङ्गनाओं के जीवन-धारण का एकमात्र कारण यही है कि उनकी आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण में अर्पित है। अतः वे कथंचित् जीवित हैं, अन्यथा इस अत्यन्त विप्रलम्भ-जन्य ताप से निश्चित ही दग्ध हो जातीं। वस्तुतः तो व्रजसीमन्तनी-जन श्रीकृष्ण की स्वात्मभूता परमशक्ति-स्वरूपा ही हैं तथापि अनवधानता में बाह्य वृत्ति होने पर उनको विप्रलम्भ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति ही उनके भीषण सन्ताप का कारण बन जाती है।

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥

(भाग० १०.४६.६)

बड़े प्रयत्न से उन्होंने प्राण धारण कर रखा है। मेरे प्रत्यागमन के संदेशों के कारण ही वे जिस किसी तरह प्राणों को रख रही हैं। मैं ही उनकी आत्मा हूँ। एक मत यह भी है कि गोपाङ्गनाएँ मदीयत्वाभिमानिनी हैं, उनका भाव है कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, अत: उनके सम्मिलन की सम्भावना का नितान्त अभाव नहीं होता। यही कारण है कि वे अत्यधिक संतप्त होने पर भी प्राण धारण किये हुए हैं। वल्लभाचार्यजी कहते हैं कि 'को ह्येवान्यात् क: प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० उ० २.७) कौन किस प्रकार की चेष्टा करता, कौन प्राणन करता यदि परमानन्दस्वरूप भगवान् अन्तरस्थित न होते? गोपाङ्गनाजनों के जीवित रहने का एकमात्र कारण है कि भगवान् आकाशरूप से उनके अन्तर्निहित हैं। वे उन में ही तल्लीन हैं।

(भाग० १०.४६.६)

प्रत्यागमन-सन्देशै:

'मैं पुन: आऊँगा' ऐसे जो सन्देश हैं वही उनके जीवन का मूल है। ''संदेशै:'' जैसे बहुवचन प्रयोग से संकेतित होता है कि ऐसे-ऐसे अनेक संदेश पहले भी भेजे जा चुके हैं। सांसारिक सम्बन्धियों एवं वस्तुओं के संयोग से प्रसन्न और वियोग से सन्तप्त होने की परम्परा तो अनादि काल से ही चली आ रही हैं, परन्तु सर्वेश्वर प्रभु के संस्मरण में प्रहृष्ट होना अथवा उनके विस्मरण से विप्रयोग संताप का अनुभव करना उच्चकोटि की प्रेम-निष्ठा है। यही सर्वोपरि उपासना है—

बल्लव्यो; वल्लवस्य पत्नी बल्लवी!

'बल्लव' अर्थात् गोप उनकी बधू गोप-वधू, गोपाङ्गनाएँ ही बल्लवीं हैं। श्रीकृष्ण अपने को गोप ही मानते हैं। ब्रह्माजी द्वारा की गयी श्रीकृष्ण-स्तुति में 'पशु-पाङ्गजाय' शब्द गोपात्मज अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। 'पशून् पालयति इति पशुप: तस्य अंगजाय, अंगात् जात इति अंगजस्तस्मै गोपालात्मजाय नन्दगोपकुमाराय।' नन्दगोप के कुमार श्रीकृष्ण।

एक कथा है, किसी भक्त ने नन्दगोपकुमार का अर्थ 'नन्दयति इति नन्द:' सम्पूर्ण विश्व को आनन्द प्रदान करने वाले।

गा वेदलक्षणा: पातीति गोप:।

वेद-लक्षणा गो का पालन करने वाले तथा 'कुत्सितान् मारयतीति कुमार:' कुत्सित जनों का हन्ता सर्वेश्वर प्रभु परमात्मा श्रीकृष्ण। कन्हैया ने तुरन्त ही हाथ पकड़ लिया, ''ना बाबा! ना; ऐसा अर्थ न करो; नन्दगोपकुमार का एकमात्र अर्थ है नन्दबाबा का छोरा।'' तात्पर्य है कि भगवान् को नन्दगोपात्मज, व्रजेन्द्रनन्दन रूप

स्वरूप ही सर्वाधिक प्रिय है। अस्तु, 'बल्लवी' शब्द प्रयोग से वे सूचित करते हैं कि गोपवधुएँ मेरी ही प्रेयसी, मेरी ही पत्नियाँ हैं। इतना ही नहीं 'मदात्मिका:' जैसे प्रयोग से श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि गोप-वधुएँ मत्स्वरूपा, मेरे ही स्वरूप-भूता हैं। भगवान् की आह्लादिनी शक्ति का सार-स्वरूप प्रकट होकर प्रेम-नाम्ना उपाधि से विभूषित होता है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि स्निग्ध अन्त:करण की भगवदाकाराकारित वृत्ति में सर्वेश्वर प्रभु के प्रकट हो जाने से प्राणी कृतार्थ हो जाता है, तथापि आह्लादिनी शक्ति का परमसार-स्वरूप प्रेम के अभिव्यक्त होने पर ही वह भक्ति-पदाभिलप्य होता है। आह्लादिनी शक्ति के सारभूत परम प्रेम की भी सारभूत हैं व्रजाङ्गनाएँ। इन प्रेममूर्ति व्रजाङ्गनाओं का ही चमत्कार है कि वे श्रीकृष्ण के मन को भी आकृष्ट कर लेती हैं। कहते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था……… *(१.७.१०)*

जो आत्माराम मुनीन्द्र निर्ग्रन्थ हैं उनको भी भगवान् में प्रेम किस हेतु से होता है? इसका उत्तर देते हैं कि भगवान् में आत्माराम चित्ताकर्षक चमत्कार है। ऐसे चमत्कारी कृष्ण का भी चित्त चुरा लेना ही व्रजाङ्गनाओं का विशिष्ट चमत्कार है—

मदात्मिका:; अहमेव आत्मा यासां ता: मदात्मिका:

मैं ही हूँ आत्मा जिनकी वे 'मदात्मिका:' हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती जो व्याख्या करते हैं, तदनुसार 'बल्लवी' का अर्थ गोप-पत्नियाँ ही हैं! श्रीकृष्ण कह रहे हैं ये गोप-पत्नियाँ मद्रूप हैं। अपना सर्वस्व मुझमें अर्पण कर मद्रूप हो गयी हैं, अत: वे मदात्मिका हैं। परम उत्कृष्ट कोटि की गोपाङ्गनाएँ तो परकीया ही हैं। वस्तुत: उनमें परकीयत्व न होते हुए भी भगवत्-स्वेच्छा से योग-मायाशक्ति की स्वयं विनिर्मित योजना द्वारा परकीयत्व की प्रतीति होती है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी परकीया कामिनी को अपने प्रियतम कान्त में प्रगाढ़ अनुराग होता है और वह नाना प्रकार के शास्त्र-वचनों को अतिक्रमण करके भी प्रियतम-सम्मिलन हेतु उतावली हो उठती है, वैसे ही प्रेम-प्रवाह को उत्कृष्ट गति देने के हेतु ही गोपाङ्गनाजनों में भी परकीयत्व की प्रतीति की गयी है। सिद्धान्त है कि—

यत्र निषेध-विशेष: या च मिथो दुर्लभता

जहाँ प्रियतम-सम्मिलन में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं वहीं प्रेम का उत्कट प्रवाह प्रस्फुटित होता है, जैसे नदी के रोकने का प्रयत्न करने पर प्रवाह उत्कट रूप से बन्धनों को तोड़कर तीव्र वेग से वह निकलता है।

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस:॥

(भाग० १०.३३.३८)

श्रीकृष्ण की माया से मोहित व्रजवासी गोपों ने अपनी-अपनी पत्नियों को अपने ही पार्श्व में अनुभव किया। अत: उनको तनिक भी ईर्ष्या नहीं हुई। महारास-रात्रि के समारोह के आयोजन होने पर गोप-पत्नियाँ मदन-मोहन, श्याम-सुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन के मंगलमय सान्निध्य में भी थीं और प्राकृत-रूप में मायिक रूप में अपने-अपने गोप-पतियों के पास भी थीं। परात्पर श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति-स्वरूपा, अंशभूता रूप में ही उनके सान्निध्य में थीं। अत: किसी भी गोप के लिए असूया का अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ। गोपाङ्गनाओं का परकीयत्व केवल काल्पनिक है। ब्रह्मा द्वारा गाय-बछड़ों सहित गोप-बालकों का हरण किये जाने पर स्वयं श्रीकृष्ण ही तत्-तत् स्वरूपों में प्रकट हुए। गर्गाचार्य के उपदेशानुसार उसी वर्ष गोप-कन्याओं का विवाह तत्-तत् गोप-कुमार स्वरूप में स्थित श्रीकृष्ण के साथ हुआ। अत: गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण की अत्यन्त स्वकीया हैं, तथापि 'बल्लवी' गोप-पत्नियाँ भी हैं।

वल्लभाचार्य कहते हैं कि परम प्रेयसीजनों के लिए किसी परपुरुष द्वारा सन्देश भेजना अनुचित कहा जा सकता है। एतावता प्रथम लोक में ही उद्धव के लोकोत्तर महत्त्व का वर्णन कर उक्त शंका का समाधान कर दिया गया है। साथ ही, उनके प्रति 'अङ्ग' सम्बोधन कर उनसे अपनी घनिष्ठता, एकात्मता को भी सूचित किया। कल्पना की जा सकती है कि सम्भवत: गोपाङ्गनाओं में ही विकार उत्पन्न हो जाय; इस शंका का भी उन्मूलन 'बल्लव्य:' जैसे सम्बोधन के द्वारा किया। 'बल्लव्य: वलयं इव संवेष्ट्य अवस्थिता:' तात्पर्य है कि ''अत्यन्तं कामिन: ये प्रतिक्षणं स्वसुन्दर वलयवत् आवेष्ठ्य स्थिता:- तासां सुखदाने संलग्नास्तानपि'' वलय के तुल्य अपनी पत्नियों को आवेष्ठित कर स्थित और उनको सुख देने में निरन्तर तत्पर बल्लवों, अपने गोप-पतियों को भी त्याग कर वे एकमात्र मत्परायण हो गयी हैं। अत: उनमें अन्यत्र रुचि प्रादुर्भूत होने की कल्पना भी सम्भव नहीं होती। हमारे अपने मतानुसारेण—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

(ईशोप० ११)

अर्थात् 'कण्टकेन कण्टकोद्धार:' न्याय से विद्या के द्वारा, वैदिक काम्य-कर्म के द्वारा, पाशविक काम्य-कर्म का उल्लंघन कर और दुस्त्यज स्वजनों को भी त्याग कर जो मत्परायण हो गयी हैं उनकी प्रवृत्ति अन्यत्र कदापि नहीं हो सकती।

यदि यह सम्भावना की जाय कि गोपाङ्गनाओं के लोकोत्तर गुण-गण एवं सौन्दर्य-माधुर्य पर उद्धव का ही मन रीझ जाय; इसका समाधान करते हैं कि—

मदात्मिका:, अहं सर्व आत्मा यासां तां मदात्मिका:।

मैं ही हूँ जिनकी आत्मा; वे मेरा ही स्वरूप हैं। यदि उन्होंने तुम्हारा मन मोह लिया तो मानो मैंने ही तुमको आकर्षित कर लिया; इस प्रकार तुम्हारी वृत्ति भी ब्रह्माकाराकारित हो जायगी। उनके दर्शन से उद्धव ही कृतार्थ हो जायँगे। अनुरागी भगवद्-भक्तिसम्पन्न व्यक्ति का दर्शन जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्ज से ही सम्भव है।

कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा।

(भाग० १०.३५.१७)

'कु' पृथ्वी-वाचक है, अतः 'कुंज' पृथ्वी से उत्पन्न वृक्षादि; जो मेरे प्रेमोन्माद में 'कुंज' गति को प्राप्त हो गयी हैं, वृक्षवत् स्तब्ध हो गयी हैं; जिनको प्रेमोन्माद-जन्य मूर्च्छा के कारण अपने वस्त्रों का भी ज्ञान नहीं रह गया है। ऐसी व्रजाङ्गनाओं के दर्शन से उद्धव भी धन्य-धन्य हो जायँगे। उद्धव स्वयं ही कह रहे हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(भाग० १०.४७.६१)

अर्थात्, अहो मैं इस व्रजधाम में कोई झाड़ी, लता अथवा औषधि ही बन जाऊँ, ताकि इन व्रजाङ्गनाओं की चरण-रज सदा मुझपर पड़ती रहे। धन्य हैं गोपियाँ जिन्होंने दुस्त्जय स्वजन-सम्बन्धियों को तथा लोक-वेद की आर्य-मर्यादा का परित्याग कर भगवत्-चरणारविन्दों में प्रीति की और तन्मयता को प्राप्त हुईं। भगवान् की निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ भी अबतक उनके परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढ़ती ही रहती हैं परन्तु इन व्रजाङ्गनाओं ने उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने मुख्यय रूप से अपने माता-पिता, यशोदा मैया और नन्दबाबा तथा अपनी परम प्रेयसी-जन, गोपाङ्गनाओं के लिए ही सन्देश भेजा है; व्रजवासी तो सब-के-सब उत्कृष्ट भक्त हैं। उपनन्द, सुनन्द, आदि वृद्ध-जन जो नन्दादिकों के भी पूज्य हैं। यहाँ तक कि व्रजधाम के पशु-पक्षी, लता-गुल्म आदि भी कृष्ण-विरह-ताप से संतप्त हैं। क्या ऐसे भक्त जनों के प्रति सन्देश न भेजना उनकी उपेक्षा नहीं है? श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।

या माभजन् दुर्जरगेहशृंङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(भाग० १०.३२.२२)

ऐसे अनन्य भक्तों के साधु-कृत्य, सेवा से हम कृतकृत्य हैं। इनको साम्राज्य, स्वराज्य, अनन्त धन-धान्य की भी स्पृहा नहीं है। जिनके आँगन में स्वयं शिवफलस्वरूप, विश्वात्मा, अनन्त-ब्रह्माण्ड-नायक, अनन्त-परमानन्द सुधा-सिन्धु ही मूर्तिमान् होकर धूल-धूसरित हो अनेक प्रकार की बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ कर रहे हों, ऐसे परम सौभाग्यशाली अनुरागी जनों को इन्द्र पद, ब्राह्मपदादि देने की कल्पना भी उपहासास्पद ही है, क्योंकि अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड का अनन्तानन्त सुख भी परमानन्द-सुधा-सिन्धु का बिन्दुमात्र ही है।

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥

(भाग० १०.१४.३५)

भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं, हे भगवन्! इन घोष (ग्राम) निवासियों को क्या देकर इनके ऋण से उऋण हो सकोगे? हमारा मन यह सोचता है कि इन्द्र-पद, महेन्द्र-पद, ब्रह्म-पद, यह सब कुछ देकर भी इनके ऋण से उऋण नहीं हो सकते; कारण है कि सम्पूर्ण विश्व के फल आप ही हैं। यदि आप कहें कि इनको आप अपना ही पद देकर इनके ऋण से उऋण हो जायँगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने अपना पद तो द्वेष से भरी, पाप-तापपरिपूर्ण पूतना को, जिसने आपको विष पिलाया, भी दे दिया। यदि आप कहें कि इनके कुल-कुटुम्ब सबको अपना पद देकर आप इनसे उऋण हो जायँगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पूतना भी तो अपने कुल-कुटुम्ब सहित ही (अघासुर, बकासुर आदि सब असुरों के साथ ही) आपको प्राप्त हुई। फिर जिनका घर, सम्पत्ति, मित्र, पुत्रादि एवं प्रिय आत्मा सभी आप के ही लिए है उनके ऋण से आप कभी नहीं उऋण हो सकते। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इन घोष-निवासी, अनुरागीजनों के ऋणी रहना ही स्वीकार किया।

व्रजधाम सम्पूर्णतः प्रेम-प्रधान जगत् है। वस्तुदृष्ट्या यह प्रेम तीन प्रकार का है—अविवेक-प्रधान, विश्रम्भक-प्रधान और उत्कण्ठा-प्रधान। सन्देश केवल उत्कण्ठाप्राप्त भक्तों को ही दिया जा सकता है। अविवेकप्रधान भाववाले भक्त को भी भगवान् में उत्कट प्रीति है, परन्तु उनमें विवेक नहीं। व्रजधाम के गाय-बछड़े,

पशु-पक्षी, तरु-लता-गुल्म सब इसी श्रेणी में आ जाते हैं। विश्रम्भक-प्रधान भक्तों में इष्ट के प्रति अपनी निष्ठा में ही अडिग विश्वास होता है। अनन्यनिष्ठा-पूर्ण उत्कट प्रेम की महिमा से ही उनको सतत इष्ट-साक्षात्कार होता रहता है। ऐसे परम अनुरागी जनों को सन्देश भेजना उनकी निष्ठा का हनन करने के तुल्य ही होगा, क्योंकि सन्देश पाकर उनके मन में सन्देह का अंकुर उत्पन्न हो जायगा। सनन्द, उपनन्द आदि पितृव्य-जन श्रीदामा आदि बाल-सखा सब विश्रम्भक-भाव-प्रधान भक्त हैं, उत्कण्ठा-भाव-प्रधान प्रेम में भक्त को भगवान् के सर्वाङ्गीण-संश्लेष-काल में भी विप्रलम्भ की ही प्रतीति होती है। अतः उनकी प्रियतम-सम्मिलन की उत्कट उत्कण्ठा प्रतिक्षण अभिवर्धमान रहती है। नन्दबाबा, यशोदा मैया, गोपाङ्गनाएँ, वृषभानुनन्दिनी राधारानी, सब उत्कट उत्कण्ठाभाव-प्रधान भक्त हैं। अतः इन्हीं लोगों के लिए सन्देश भेजा गया है।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥

(भाग० १०.४६.७)

श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं कि हे राजन्! श्रीकृष्ण द्वारा ऐसा कहे जाने पर उद्धव ने बड़े आदरसहित अपने स्वामी का सन्देश ले जाने के लिए रथ पर आरूढ़ होकर गोकुल गाँव के लिए प्रस्थान किया।

उद्धव कृष्ण के चचेरे भाई ही हैं तथापि उनको परमानन्दकन्द-स्वरूप जानते हुए उनको अपना 'भर्तुः' भर्ता, स्वामी ही मानते हैं। श्रीकृष्ण ने उनको अपने ही वस्त्र पहिनाये और अपना ही रथ भी दिया, ताकि व्रजवासियों को उनके वचनों में आकर्षण और परम विश्वास हो।

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥

(भाग० १०. ४६. ८)

परम सुन्दर उद्धवजी गोधूलि-वेला में, वनों में घास चरकर गायों के गोकुल लौटने की वेला में, सूर्य भगवान् के अस्ताचलगामी होने पर सन्ध्या-काल में नन्दबाबा के व्रजधाम में पहुँचे। सन्ध्या-काल के कारण कुछ अन्धेरा हो चला था, साथ ही उनका रथ भी गोरज से आच्छादित हो रहा था। अतः व्रज-वासियों को सहसा उनके रथ के आने का ज्ञान न हो सका—

वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान्॥

(भाग० १०.४६.९)

उस समय व्रजभूमि में ऋतुमती गायों के लिए मतवाले साँड परस्पर युद्ध कर रहे थे, अतः उनकी गर्जना से व्रजभूमि निनादित हो रही थी। थोड़े दिन की ब्यायी गायें दूधभरे अपने थनों के भार से बोझिल होते हुए भी अपने-अपने वत्स (बछड़ों) के लिए दौड़ रही थीं।

इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च॥

(१०.४६.१०)

सफेद रंग के बछड़े इधर-उधर उछल-कूद मचाते हुए बहुत ही भले लग रहे थे। गायों को दूहने की घर-घर ध्वनि और गोप-गणों द्वारा बजाये गये वेणुकी मधुर टेर से व्रजधाम का वातावरण परिपूर्ण हो रहा था। सम्पूर्ण व्रजधाम की अपूर्व शोभा हो रही थी।

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्॥

(१०.४६.११)

गोपाङ्गनाएँ सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो श्रीकृष्ण एवं बलराम के गुण-गणों का गान करती हुई इनके मधुर, मनोहर, मंगलमय चरित्र का वर्णन कर रही थीं। 'स्वलंकृता' शब्द के प्रयोग का तात्पर्य यह भी है कि उनकी शोभा, आभा, प्रभा ही ऐसी थी कि वे स्वभावतः सु-अलंकृता प्रतीत होती थीं। प्रायः देखा जाता है कि सुन्दर वस्त्र एवं नाना अलंकार धारण किये रहने पर भी किसी-किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं निखरता और कोई-कोई अतिसामान्य वेष-भूषा में भी बहुत ही स्वलंकृत प्रतीत होते हैं। अपने शुद्ध मानस के प्रभाव से ही उनकी शोभा, आभा, प्रभा उनका व्यक्तित्व सहज ही निखर उठता है।

अग्न्यर्कातिथि गोविप्र पितृदेवार्चनान्वितैः।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥

(१०.४६.१२)

उन गोपों के घरों में अग्नि, सूर्य, गो, ब्राह्मण, अतिथि एवं देव-पितरों की पूजा हुई थी; अतः उनके घर पुष्प से सजाये हुए थे, उनमें दीप जगमगा रहे थे और धूपादि से सुवासित हो रहे थे। ऐसे मनोहर गृहों से व्रजधाम अत्यन्त मनोरम हो रहा था।

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥

(१०.४६.१३)

चारों ओर वन-पंक्तियाँ फूलों से लद रही थीं; पक्षी चहक रहे थे और भौंरे गुंजार कर रहे थे। जल और स्थल दोनों ही कमलपुष्पों से शोभायमान हो रहे थे। हंस, कारण्डव आदि पक्षी वन में विहार कर रहे थे। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण व्रजधाम एवं व्रजवासी अत्यन्त प्रफुल्लित तथा उल्लसित थे।

विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण के वियोग-जन्य तीव्र-ताप से सम्पूर्ण व्रजधाम ही अत्यन्त संतप्त एवं श्रीहत था, तथापि अपने परम भक्त एवं प्रिय मित्र उद्धव को व्रजधाम की दिव्यता का दर्शन कराने हेतु भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया द्वारा उस निरुत्साही दृश्य को सलोना कर दिया। प्राणीमात्र की सम्पूर्ण चेष्टाएँ अन्तर्यामी की प्रेरणा से ही प्रभावित होती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट ही कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८.६१)

यन्त्रारूढ़ के समान ईश्वर ही सब प्राणियों को प्रेरित कर भिन्न-भिन्न कर्मों में लगाता है।

एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषति।
एष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते॥

(कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ३.९)

भगवत्-प्रेरणा से ही शुभाशुभ कर्म करते हुए प्राण उर्ध्व अथवा अधोलोक में जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना है कि विभिन्न शुभाशुभ कर्मों के लिए भगवत्-प्रेरणा प्राणी के अपने ही पूर्व-कृत कर्म-जन्य संस्कारों की ही अनुगामिनी होती है। भगवान् बादरायण विचार करते हैं—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः।

(ब्र०सू० २.३.४२)

यदि यह माना जाय कि भगवान् प्राणी को शुभाशुभ कर्म में निष्कारण ही प्रेरित करते हैं तो उनमें विषमता और निर्घृणता (निर्दयता) आरोपित हो जायगी। प्राणी के स्वकर्म की अपेक्षा कर के ही भगवान् उसे विभिन्न शुभाशुभ कर्मों में नियोजित करते हैं। जैसे हथकड़ी से हाथ जकड़े हुए किसी व्यक्ति को किसी कर्म में प्रेरित नहीं किया जा सकता वैसे ही शुभाशुभ करने में स्वतंत्र न होने से किसी प्राणी को किसी कर्म के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता। शास्त्र-निर्देशित विधि-निषेध की सार्थकता भी प्राणी के कर्म में स्वतन्त्र होने पर ही सिद्ध होती है।

श्रीकृष्ण ने अपने परम भक्त, सुहृद और चचेरे भाई ज्ञानियों में श्रेष्ठ उद्धव को अपने दिव्य धाम व्रजधाम के, जिसके स्मरणमात्र से कल्याण हो जाता है, यथार्थ दर्शन कराने के लिए ही अपनी दिव्य लीलाशक्ति के प्रभाव से अपने विप्रयोगजन्य संतप्तस्थिति को प्रवृत्त कर दिया।

परम अनुरागी व्रज-वासियों की भी तीन प्रकार की भाव-भूमियाँ कही जा चुकी हैं। उत्कण्ठा-भाव-प्रधान, नन्दबाबा यशोदा मैया, एवं व्रजसीमन्तिनी-जनों को ही श्रीकृष्ण-विप्रयोग का स्वरूप स्पष्टतया भासित होता है, अतः उनको ही विरह-जन्य अतुलित संताप की तीव्र अनुभूति है। विश्रम्भक-भावप्रधान सुनन्द, उपनन्द आदि एवं श्रीदामा, मनसुख आदि बालसखा तो सदा ही कृष्ण-सम्मिलन का ही अनुभव करते हैं। अनेक गोपाङ्गनाओं भी विश्रम्भक-भाववती हैं, इन भक्तों का सुदृढ़ विश्वास है कि श्रीकृष्ण 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' श्रीकृष्ण वृन्दावन को त्यागकर एक पग भी कदापि नहीं जाते। अतः उनसे वियुक्त होने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। इनके प्रेम-द्रवीभूत अन्तःकरण में श्रीकृष्णचन्द्र स्थायी-भाव से स्थित हैं, अतः उनको वियोगानुभूति होती ही नहीं; वे सदा ही प्रफुल्लित एवं सुसज्जित रहते हैं।

मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि कुछ भक्त ऐसे हैं जो समस्त विश्व को कृष्णमय देखते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(भाग० ११.२.४५)

जो सर्वभूतों को भगवदात्मा में देखते हैं और सम्पूर्ण भूतों में भगवद्भाव तो देखते हैं वही भागवत्तोत्तम है।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

(भाग० ११.२.४७)

भगवान् की तत्-तत् मूर्ति ही अर्चनीय है—ऐसा मानता हुआ जो भक्त अन्य भक्तों में प्रेम नहीं रखता, वह प्राकृत (सामान्य) कोटि का भक्त है।

सभी भक्तों में मैत्री रखते हुए प्रतिकूल जनों की उपेक्षा करने वाला मध्यम कोटि का भक्त है; सम्पूर्ण विश्व को कृष्णमय अनुभव करने वाला ही सर्वाधिक उत्तम भक्त है। वेदान्त-सिद्धान्त है कि अन्तःकरण में ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ग्रहण होता है, अतः अन्तःकरण के कृष्णमय हो जाने से व्यक्ति के सम्पूर्ण कर्म कृष्णमय हो जाते हैं।

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्॥

(भाग० १०.४६.१४)

कृष्ण के प्यारे अनुचर उद्धव के नन्द-महल पहुँचने पर नन्दबाबा ने उनका बड़े सम्मान के साथ स्वागत किया; उन्होंने उद्धव को श्रीकृष्णतुल्य मानकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक गले से लगा लिया।

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः॥

(भाग० १०.४६.१५)

नन्दबाबा ने उनको उत्तमोत्तम भोजन कराया; भोजनोपरान्त उनको सुखपूर्वक पलंग पर बिठाया; भृत्यादिकों ने पंखा झलकर और पैर दबाकर उनकी थकावट मिटाकर उनको आराम पहुँचाया।

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥

(१०.४६.१६)

तब नन्दबाबा ने उद्धव से प्रश्न किया, हे अङ्ग! हे महाभाग! हमारे सखा शूरपुत्र वसुदेवजी बन्धन-मुक्त होकर आत्मीय स्वजन और पुत्रों के साथ रहते हुए कुशल से तो हैं?

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा॥

(१०.४६.१७)

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अपने अनुयायियों के साथ कंस अपने पापों के कारण ही मारा गया। वह सदा से ही परम धर्मशील यदुवंशियों के साथ द्वेष रखता था। कंस श्रीकृष्ण का मामा था। अतः कहा जा सकता है कि उनके द्वारा मामा का मारा जाना सर्वथा अनुचित कर्म था। इस शंका के स्पष्टीकरण हेतु ही 'स्वेन पाप्मना' कहा गया है।

तात्पर्य कि श्रीकृष्ण ने कंस को नहीं मारा, अपितु वह स्वयं अपने किये कुकृत्य, पापों के द्वारा मारा गया।

प्राणी का अपना दुष्कृत्य ही उसके कल्याण का विघटन कर देता है। वाल्मीकि-रामायण में भी एक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन है। राम-रावण-युद्ध में

रावण मारा गया; उसकी रानियाँ विलाप करती हुई कह रही हैं—

येन वित्रासितः शक्रो येन वित्रासितो यमः।
येन वैश्रवणो राजा पुष्पकेण वियोजितः॥

(युद्ध-काण्ड ११०.१२)

असुरेभ्यः सुरेभ्यो वा पन्नगेभ्योऽपि वा तथा।
भयं यो न विजानाति तस्येदं मानुषाद् भयम्॥

(११०.१४)

अर्थात् हे पतिदेव! आपने इन्द्र, वरुण, कुबेर, सब पर विजय प्राप्त की थी; आपका बल और ऐश्वर्य अतुलित था। परन्तु आज आप एक मानव राम के बाण से आहत होकर विदीर्ण होकर रणांगण की धरती पर पड़े हुए हैं।

यह विधि की कैसी विचित्र गति है, कैसी विडम्बना है? पुनः महारानी मन्दोदरी कह रही हैं—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया।
स्मरद्भिरिव तद्वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः॥

(१११.१५)

हे आर्य! आप राम के बाणों से नहीं मारे गये। आपकी अपनी इन्द्रियों ने ही पुरानी शत्रुता के कारण आज आपको विजित बनाकर रणांगण में गिरा दिया है। जब तक आप जितेन्द्रिय थे तब तक आपका बल अतुल था, परन्तु इन्द्रियों के द्वारा विजित होने पर उन्हीं इन्द्रियों ने आपको राम के बाण के ब्याज से गिरा दिया है। तात्पर्य यह कि प्राणी का अपना कर्म ही उसके सुख-दुःख का निमित्त बनता है

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥

(भाग० १०.४६.१८)

हे उद्धव! क्या श्रीकृष्ण भी कभी हम लोगों की याद करते हैं? 'नः' शब्द बहुवचन है, क्योंकि इसका प्रयोग नन्द, सुनन्द, उपनन्द सभी वृद्धजनों के हेतु किया गया है। 'मातरम्' शब्द का एक वचन है क्योंकि मातृकोटि की गोपाङ्गनाओं में यशोदा रानी ही अपने लाला के विछोह से सर्वाधिक कातर हो रही थीं। 'सुहृदः सखीन्' प्रत्युपकार-निरपेक्ष, हित-चिन्तक ही सुहृद् हैं। नन्दबाबा पूछ रहे हैं : हे उद्धव! क्या श्रीकृष्ण कभी अपने सुहृद् एवं बाल-सखा श्रीदामा, सुबल, मनसुख, आदि को भी याद करते हैं? श्रीकृष्ण को

ही अपना स्वामी और सर्वस्व, अपना आत्मा माननेवाले व्रज को भी क्या वे कभी याद करते हैं? क्या वे यहाँ के पर्वत, गिरिराज, गाय-बछड़ों को भी याद करते हैं?

'व्रजं चात्मनाथम्' सम्पूर्ण व्रज ही उनको अपने ध्येय, ज्ञेय, परम प्रेमास्पद, स्वामी एवं सखा, सर्वस्व मानता है। इस उक्ति से स्पष्ट करते हैं कि व्रजधाम के जड़तरु, गुल्म, लतादि भी, सम्पूर्ण चेतन प्राणी, पशु-पक्षी भी तथा व्रजजन भी, सबके सब श्रीकृष्ण-प्रेम में तल्लीन हैं।

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।

(भाग० १०.१२.१२ पूर्वार्ध)

जहाँ के वृक्षों की एक किरण भी धृतात्मा, योगीन्द्र, मुनीन्द्रों द्वारा भी अलभ्य है—ऐसा परम सौभाग्यशाली जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण व्रजधाम ही भगवत्-स्वरूप है। 'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति' जिस व्रजधाम में पहुँचते ही प्राणीमात्र सच्चिदानन्दघनता को प्राप्त कर लेता है, सच्चिदानन्दघन-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

व्रज और व्रजाङ्गनाएँ, दोनों ही प्रेम की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। प्रेमोद्रेक की एक अवस्था होती है 'जाड्यापत्ति' जड़ता, यह जड़तावस्था ही व्रजधाम है। प्रेमोद्रेक की ही अन्य एक अवस्था है उन्माद या चाञ्चल्य, यह उन्माद ही गोपाङ्गनाजन हैं।

यथार्थतः श्रीकृष्णो वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

वृन्दावन को छोड़कर एक पग भी कहीं नहीं जाते, तथापि स्थिति भेद से विरहानुभूति होती है।

अन्तर्मुखता होने पर व्रजधाम में ही भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन, साक्षात्कार हो जाता है; परन्तु तनिक भी अनवधानता होने पर, बहिर्मुखता होने पर उनके मथुरा-गमन और विप्रलम्भ की अनुभूति अनिवार्य रूप में होने लगती है।

'गावः' श्रीकृष्ण अपने को गोपात्मज, नन्दनन्दन ही मानते हैं। उनको गायें अतिप्रिय हैं। वे उनको अपना इष्ट मानते हैं, उनके चरणरज-गंगा में स्नानकर अपने को धन्य-भाग मानते हैं। इन गायों का अनुसरण करते हुए उनके निरावरण चरणारविन्दों का संस्पर्श-सौभाग्य व्रजधाम को प्राप्त हुआ, क्या वे अपनी उन गायों को भी याद करते हैं?

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरागात्ततः॥

(वा० रा०)

भक्तजनों के हृदय में भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्र ने दण्डक-वन के कण्टकों से विद्ध अपने पादपल्लवों को स्थापित किया, तात्पर्य यह कि सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन, परमात्मा, परात्पर प्रभु श्रीरामस्वरूप में अथवा श्रीकृष्णस्वरूप में अवतरित हों, वे सदा-सर्वदा ही गो-ब्राह्मण-रक्षणार्थ, धर्म-रक्षणार्थ, तथा दुष्ट-दर्प-दलनार्थ तत्पर रहते हैं।

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥

(भाग० १०.४६.१९)

नन्दबाबा कह रहे हैं : हे उद्धव! आप यह तो बतायें कि क्या हमारे गोविन्द अपने सुहृद-बान्धवों से मिलने के लिए एक बार भी व्रज पधारेंगे? यदि वे यहाँ एकबार आ जाते तो हम उनकी सुघड़ नासिका, मधुर हास्य और मनोहर चितवन से युक्त उनके मुखारविन्द का दर्शन तो कर लेते।

'तर्हि द्रक्ष्याम' (१९) जैसे प्रयोग से संकेतित होता है कि आज तक नन्दबाबा और यशोदा मैया ने टोना लग जाने के भय से अपने लाड़ले लाल के मुखचन्द्र को कभी पूर्णतः निहारा ही नहीं, अतः इच्छा करते हैं कि एक बार कृष्ण लौट आयें तो हम उनके मुखचन्द्र का प्रेम-सहित अवलोकन तो कर लें। विप्रलम्भ की सहज प्रतिक्रिया है कि प्राणी विकल हो उठता है, ऐसी स्थिति में उसको प्रेमास्पद के ऐश्वर्य की अनुभूति होती है। ऐश्वर्य की स्फूर्ति से माधुर्य-भाव-जन्य विह्वलता में न्यूनता आती है। अस्तु, नन्दबाबा और यशोदा मैया अपने पुत्र के मुखारविन्द-दर्शन की लालसा करते हैं।

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥

(१०.४६.२०)

नन्दबाबा कह रहे हैं : हे उद्धव! श्रीकृष्ण का हृदय अत्यन्त उदार है, उनकी शक्ति अनन्त है। उन्होंने हम लोगों की बार-बार रक्षा की है; दावानल, वृषासुर, आँधी-पानी और अजगर आदि अन्य मृत्युभयों से, जिनसे हम कभी पार नहीं पा सकते थे, हमारी सदा ही रक्षा की है।

वसुदेवजी कृष्ण के लिए 'सुमहात्मा' विशेषण का प्रयोग करते हैं, 'सुष्ठु एवं महान् आत्मा मनः यस्य असौ सुमहात्मा' शोभन एवं महान् है जिसका मन वह सुमहात्मा है। करुण और दया से ओत-प्रोत मन ही शोभन है; अक्षुद्र मन ही महान् है। शास्त्रों में दो प्रकार के सत्त्व बताये गये हैं; महासत्त्व और अल्पसत्त्व। 'सत्त्वं मनः चित्तरूपेण परिणतं सत्त्वम्।' चित्त या मन ही सत्त्व है।

जिसका चित्त, मन उदार है वही महासत्त्व है। जिसका चित्त क्षुद्र है वह अल्प-सत्त्व है। श्रीकृष्ण परम उदारचेता, परम कृपालु, करुण वरुणालय हैं, अतः वे महात्मा हैं।

क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः, रुष्टास्तुष्टाः क्षणे-क्षणे।
अनवस्थित-चित्तानां प्रसादोऽपि भयङ्करः॥

अस्थिर चित्तवाले की प्रसन्नता भी भयकारी होती है; क्योंकि वह अकारण ही क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होता रहता है। भगवान् की ही यह महिमा है कि वे अपने प्रति अपराध करने वाले पर भी कुपित नहीं होते। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं :

निज अपराध रिसाय न काहूँ। फिर भी जो—
अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक मँह जरई॥

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(वा०रा० २.१.११)

अर्थात् कदाचित् अनजाने भी सत्कर्म बन जाने पर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तथापि सैकड़ों अपराध करने पर भी वे उनके प्रति उदासीन ही रहते हैं।

रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरत सौ बार हिए की॥

(श्रीरामचरितमानस)

जनकनन्दिनी जानकीजी भी कह रही हैं—

कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।

(वा० रा० युद्ध-काण्ड ११३.४५)

अर्थात् ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं जिससे कोई अपराध न बन पड़ा हो; अतः आर्य को सदा करुणापूर्ण ही होना चाहिए।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति

(देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम् २)

पुत्र कभी कुपुत्र भी हो जाता है परन्तु माता कदापि कुमाता नहीं होती। इसी तरह सर्वाधिष्ठान, अखिल जगत् के माता-पिता, एकमात्र आश्रय प्रभु सदा ही कारुणिक हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

भगवान् ही माता-पिता हैं; वे ही बन्धु एवं सखा भी हैं; वे ही गुरु हैं, वे ही विद्या हैं, वे ही सर्वस्व हैं। ऐसे सुष्ट मन सुमहात्मा पर ही निस्संदेह विश्वास के साथ पूर्णतः निर्भर होकर उनके आश्रय में अपने आपको समर्पित कर जीव पूर्ण सुरक्षा का अनुभव कर सकता है।

वसुदेवजी कह रहे हैं, हे उद्धव! सुमहात्मा श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के मृत्यु-भयों से हमारी बार-बार रक्षा की है।

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्ग-निरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥

(१०.४६.२१)

हे अङ्ग! श्रीकृष्ण के विचित्र चरित्र, उनकी कटाक्षपूर्ण तिरछी नजर, चितवन, उन्मुक्त हास्य, मधुर सम्भाषण आदि का निरन्तर स्मरण होते रहने के कारण हम अत्यन्त संतप्त हो रहे हैं, अतः हमारे अङ्गों और क्रियाओं में शिथिलता आ गयी है। परम-प्रेम का आस्पद ही 'अङ्ग' है; अभेदाभिप्राय व्यक्त करने के लिए ही नन्द उद्धव के प्रति 'अङ्ग' सम्बोधन करते हैं। तात्पर्य यह कि वे उनको यह बताना चाह रहे हैं कि हम लोगों को आपसे कोई वञ्चना, कोई दुराव-छिपाव नहीं है।

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥

(१०.४६.२२)

यह वह नदी है जिसमें वे बाल-क्रीड़ा करते थे; यह वह गिरिराज गोवर्धन पर्वत है जिसको उन्होंने अपनी अँगुली पर उठा लिया था; ये ही वे वन हैं जहाँ वे गाय चराते हुए वेणु-वादन करते थे और अपने सखाओं के साथ नाना प्रकार के खेल खेला करते थे। इन सबको और जिस भूमि पर उनके चरण-चिह्न आज भी विद्यमान हैं ऐसी भूमि को देखकर हमारा मन उनमें तन्मय होने लगता है।

सम्पूर्ण वृन्दावन ही कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का क्षेत्र रहा है अतः वहाँ के प्रत्येक स्थल, नदी, पर्वत सब उनकी स्मृति को और भी प्रचण्ड रूप से जागृत कर देते हैं। परिणामतः हमारा संताप और भी बढ़ जाता है। विरहाग्नि द्वारा द्रवीभूत अन्तःकरण में ही तदात्मकता स्थायी-भाव स्वरूप को ग्रहण कर पाती है।

योगीन्द्र, मुनीन्द्र, परमहंस भी श्रीकृष्ण-स्मरणरूप अमृतपान के लिए सदा ही उत्सुक रहते हैं।

कृष्ण त्वदीय-पदपङ्कजपञ्जरान्ते,
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राण-प्रयाण-समये कफवातपित्तैः,
कण्टावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

अर्थात् हे कृष्ण! आपके मंगलमय चरणाम्बुज-रूप पञ्जर (पिंजरा) में मेरा मनरूप राजहंस आज ही से, अभी से निवास करे, क्योंकि प्राण-प्रयाण काल में कफ, वात एवं पित्त द्वारा कण्ठावरोध होने पर आपका स्मरण नहीं बन पायेगा।

कृष्ण-प्रेम-तन्मय अतिशय भाग्यशाली इन व्रजवासियों के लिए कृष्ण-स्मरणामृत भी संताप का ही कारण बन जाता है; क्योंकि वह कृष्णसन्निधान-साहित्य-विशिष्ट ही है। विप्रलम्भ में विशेष उत्कंठा होती है, अत: मदीयत्वाभिमान प्रमुख हो जाता है; तथापि उनके ऐश्वर्य का ज्ञान होने से अपनी अल्पज्ञता का भी बोध होने लगता है।

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥

(१०. ४६. २३)

इसमें सन्देह नहीं कि मैं श्रीकृष्ण और बलराम दोनों को ही देव-शिरोमणि मानता हूँ और यह भी मानता हूँ कि वे देवताओं का कोई बड़ा प्रयोजन सिद्ध करने हेतु ही आये हैं। स्वयं गर्गाचार्यजी ने भी मुझसे ऐसा ही कहा था।

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥

तालत्रयं महासारं धुनर्यष्टिमिवेभराट्।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम्॥

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया॥

(१०.४६.२४-२६)

जैसे सिंह बिना किसी परिश्रम के पशुओं को मार डालता है वैसे ही उन्होंने भी खेल में दस हजार हाथियों के समान बलशाली कंस और उसके दोनों अजेय पहलवानों को मार डाला।

तीन ताल लम्बे महासार धनुष को उन्होंने वैसे ही तोड़ डाला जैसे कोई हाथी छड़ी को तोड़ दे। उन्होंने सात दिन-रात पर्यन्त लगातार गोवर्धन को अपने हाथ पर उठाये रखकर हमारी रक्षा की।

साथ ही, महाबलशाली प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त, अघासुर और बकासुर जैसे भयानक दैत्यों को, जिन्होंने देवताओं पर भी विजय प्राप्त की थी, सबके देखते-देखते मार डाला।

ऐसे अद्भुत, अलौकिक कृत्य करने वाले श्रीकृष्ण और बलराम निश्चय ही नर-नारायस्वरूप हैं, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अनुभवजन्य मेरा यह कथन केवल अनुमान अथवा शास्त्र-विरुद्ध अप्रमाण नहीं है; स्वयं भगवान् गर्गाचार्य ने भी मुझसे ऐसा ही कहा था कि तुम्हारा पुत्र साक्षात् नारायण परमात्मा ही है और ये नर-नारायण तुम लोगों के कल्याण-हेतु ही प्रादुर्भूत हुए हैं।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

(मनुस्मृति १.१०)

अर्थात्, नर से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च ही 'नार' है; इस नार में सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापी रूप से जो विद्यमान है वही परब्रह्म, परमात्मा, नारायण है।

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥

(१०.४६.२७)

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

(१०.४७.२८)

श्रीकृष्णानुरक्त बुद्धिवाले नन्दबाबा उनकी लीलाओं का वर्णन करते-करते अत्यन्त प्रेम-विह्वल हो उठे; उनके कण्ठ अवरुद्ध हो गये, अतः वे बोलने में असमर्थ हो मौन हो गये। स्मृति, चित्त का धर्म है; मन में अनुराग का आविर्भाव होने पर प्रिय-सम्मिलन की अत्यन्त उत्कट उत्कंठा प्रादुर्भूत हो जाती है। अत्यन्त उत्कंठित होने पर स्तब्धता होती है। अत्युत्कंठित होने के कारण श्रीनन्दजी 'तूष्णीम् अभवत्' चुप हो गये।

यशोदा मैया की अवस्था तो अत्यन्त विलक्षण है; वे अपने पुत्र के प्रेम में ऐसी विह्वल हैं कि उनका कुशल-क्षेम पूछने में भी समर्थ नहीं; वे भी वहीं बैठी हैं और नन्दबाबा की बातें सुन रही हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं को सुनते-सुनते उनकी आँखों से अश्रु-धारा बह चली और वात्सल्य के कारण उनके स्तनों से दूध फूटने लगा।

श्रीकृष्ण की लीलाओं के कारण तथा गर्गाचार्य महाराज के उपदेश के कारण नन्दजी यह मानते हैं कि उनके पुत्ररूप में अखिल-ब्रह्माण्डनायक ही अवतरित हुए हैं; अत: उनको श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का भी बोध होता है। परन्तु यशोदा रानी तो उनको केवल अपना पुत्र, अपना लाड़ला लाल ही जानती हैं। उनके मन में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यभाव का बोध कदापि नहीं होता। भक्ति-सिद्धान्तानुसार प्रेम-विह्वलता ही परम पुरुषार्थ है। तदनुसार सच्चिदानन्दघन-स्वरूप में मन तदाकाराकारित होकर ही विह्वल होता है। मन की अत्यन्त शिथिल अवस्था, समाधि अवस्था में भी भगवदाकारता स्फुटरूप से विद्यमान रहती है।

स्मरण करते-करते चित्तवृत्ति के एकाग्र (तन्मय) हो जाने पर विजातीय प्रत्ययों के निरोध होने एवं सजातीय प्रत्ययों का अखण्ड प्रवाह चल पड़ने पर केवल ध्येयस्वरूप ही भासित रह जाता है।

जब चित्त ध्येय को ग्रहण करने में भी असमर्थ हो जाता है तब वेदान्त-वेद्य, अखण्ड-ब्रह्म समुपस्थित हो जाता है। सगुण, साकार, अनन्त-कल्याण-गुणधाम, सच्चिदानन्दघनस्वरूप ब्रह्म ही अखण्ड बोधरूप, निर्विकल्प सत्ता, भेदाभेदशून्य निर्बोधरूप से प्रस्फुरित हो जाता है।

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(भाग० २.१०.९)

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय अथवा ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी में से एक के भी विलीन हो जाने पर निश्चय ही तीनों विलीन हो जाते हैं। ध्येय के रहने पर ध्येयकाराकारित वृत्ति और उसका आश्रयभूत ध्याता भी अवश्य ही रहेगा; तीनों में से एक के बिना दूसरे का उपलम्भ सम्भव नहीं।

जो तीनों के भाव को जानता है, अभाव को जानता है, उस साक्षीभूत अखण्ड बोधस्वरूप परमात्मा का अनायासेन स्फुरण होता है। शारीरिक शिथिलता सामान्य बात है, परन्तु मन की शिथिलता, विषयों को ग्रहण करने में मन की उदासीनता हो जाने पर अखण्ड बोध स्वत: स्फुरित हो जाता है। यही प्रेम की अत्यन्त उत्कर्ष कोटि की प्रेम-विह्वलता है, यही परम पुरुषार्थ है।

भगवत्-कथा का वर्णन और स्मरण दोनों ही भगवत्-मूलक हैं; वर्णनमूल है और स्मरण फल है।

अघौघविध्वंसनं हरि-स्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।

भगवत्-स्मृति परम मंगलमयी और सम्पूर्ण अघौघ, पाप-ताप की विध्वंसकारिणी है।

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा॥

(१०.४६.२९)

नन्दबाबा और यशोदा मैया का श्रीकृष्ण के प्रति इस अगाध प्रेम को देखकर उद्धव भी आनन्दमग्न हो गये और उनसे कहने लगे।

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत् कृता मतिरीदृशी॥

(१०.४६.३०)

हे मानद! निश्चय ही समस्त देह-धारियों में आप अत्यन्त सौभाग्यशाली एवं प्रशंसनीय हैं, क्योंकि अखिल जगत् के स्वामी और साक्षात् नारायण में आपकी ऐसी अद्भुत प्रीति है।

नन्दबाबा के प्रति 'मानद' सम्बोधन का प्रयोग किया गया है; 'मानद' का अर्थ है मान देने वाला; जो निरभिमानी हो वही 'मानद' है, वही दूसरों को मान दे सकता है। 'अमानी मानदो मान्यो' जो अमानी है, निरंहकारी है, जो सबको मान देने वाला है वही मान्य भी होता है।

तात्पर्य यह कि उद्धव मान रहे हैं कि नन्दबाबा और यशोदा रानी परम निष्काम, वीतराग और अन्तर्मुख हैं, अतः वे परम सम्माननीय हैं।

तं सप्रपञ्चमधिरूढ-समाधियोगः,
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः।

(भाग० ३.२८.३८ उत्तरार्ध)

जैसे मदिरा-मदान्ध को अपने शरीर का कपड़ा गिर जाने पर भी उसका भान नहीं होता, वैसे ही योगीन्द्र, मुनीन्द्र, तत्त्वदर्शी, अमलात्मा परमहंस को भी विज्ञान-सम्पन्न, अजर, अमर, अखण्ड, स्वप्रकाश स्वरूप के अनुभव से सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च, यहाँ तक कि स्वदेह का भी भान नहीं रह जाता।

जैसे पीपल का पत्ता वायु-प्रेरित हो इतस्ततः गिरता रहता है वैसे ही ज्ञानी भी प्रारब्धवशात्-इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओं की प्रेरणा से कर्म करता है। ब्रह्मविद्वरिष्ट की सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाएँ सोद्देश्य न होकर केवल प्रारब्ध-प्रेरित ही होती हैं।

नन्दबाबा और यशोदा रानी की ऐसी ही स्थिति है कि अखिल दृश्य-प्रपञ्च और देह-गेह का भान भूलकर वे श्रीकृष्ण-स्मृति में तल्लीन हैं। यहाँ शंका की जा सकती है कि ऐसी स्थिति में नन्दबाबा मधुपर्कादि से उद्धवजी की पूजा एवं सम्मान-स्वागत में क्योंकर प्रवृत्त हो सके? इसका समाधान 'वासुदेव-धियाऽऽर्चयत्' (१४) यह कहकर किया गया है। नन्दबाबा को उद्धव में नारायण-बुद्धि, वासुदेव श्रीकृष्ण-बुद्धि होने के कारण ही ऐसा सम्भव हुआ। जैसे अन्तर्यामी भगवान् की प्रेरणा से व्रज में कुछ काल के लिए विप्रलम्भ-प्रकाश तिरोहित हो गया और सम्प्रयोग-प्रकाश प्रादुर्भूत हुआ, वैसे ही नन्दबाबा को उद्धव में साक्षात् कृष्ण-भावना हुई।

युवां श्लाघ्यतमौ नूनम् (३०) आप दोनों ही अत्यन्त श्लाघ्यतम हैं। सत्कर्म-निष्ठ ही श्लाघ्य है, प्रशंसनीय है। भक्ति-सिद्धान्तानुसार कर्म-निष्ठ श्लाघ्य है, ज्ञान-निष्ठ श्लाघ्यतर है और भक्त श्लाघ्यतम है। नन्दबाबा और यशोदा रानी भी श्लाघ्यतम हैं। इस पद प्रयोग से यह भी संकेतित है कि सम्पूर्ण व्रजवासी ही श्लाघ्य हैं; वसुदेव-देवकी श्लाघ्यतर हैं, परन्तु नन्दबाबा और यशोदा मैया श्लाघ्यतम हैं, सर्वापेक्षा श्लाघ्य हैं। वसुदेव-देवकी को वरदान प्राप्त हुआ; उनको ही भगवान् का प्राकट्य भी हुआ परन्तु निश्छल पुत्र-स्नेह, अपने लाड़ले लाल का लाड़ लड़ाने का, उसको दुलराने का आनन्द तो नन्दबाबा और यशोदा मैया को ही प्राप्त हुआ। बाललीला का सुख बहुत महत्त्वपूर्ण है, कौशल्या देवी भी कह रही हैं—

कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥

(श्रीरामचरितमानस, बाल०)

गोस्वामी तुलसीदासकृत 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में वर्णन है कि बालकृष्ण यशोदा मैया से पूछ रहे हैं—'माँ, तू इतनी प्रसन्न क्यों हो रही है?' यशोदा मैया उत्तर देती हैं—'हे बालक! मेरे पुण्य-पुंज के समान तेरा पुण्य-पुंज नहीं है। तेरे मुखचन्द्र के दर्शन से मुझको जो लोकोत्तर आनन्द मिल रहा है उसका अनुभव मैं तुझे कैसे करा सकती हूँ? तू अधिकाधिक दर्पण में अथवा मणिमय प्रांगण और स्तम्भों की मणियों में ही अपने प्रतिबिम्ब को देख सकता है; परन्तु मैं तो तेरे मुखचन्द्र को निरखती हूँ। बिम्ब के दर्शन का अनुपम स्वाद प्रतिबिम्ब के दर्शन से क्योंकर प्राप्त हो सकता है?'

रत्नस्थले जानुचरः कुमारः संक्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदाद् विलोक्य धात्रीवदनं रुरोद॥

(कृष्ण-कर्णामृत २.५४)

अर्थात् मणिमय प्रांगण और स्तम्भों की मणियों में अपनी ही छबि, निहारकर बालकृष्ण आनन्द-मग्न होकर नाचने लगते हैं; उस प्रतिबिम्ब में अन्य बालक की भावना कर कन्हैया उसको पकड़ने दौड़ते हैं; विफल होकर माँ का मुँह देखकर रोने लगते हैं।

नृत्य प्रेमोल्लास की चरम सीमा है। राघवेन्द्र रामचन्द्र भी बाल-लीला करते हुए कौशल्या महारानी के आँगन में नाच उठते हैं :

रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी।

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

'देहिनामिह' इह=अस्मिन् जगति वर्तमान-काले कृष्णावतारस्य समये जगति अर्थात् इस वर्तमान काल में कृष्णावतार के समय जगत् के 'नारदाद्याः गोकुलवासिपर्यन्ताः' महर्षि नारद से लेकर सब गोकुलवासी पर्यन्त महान् भक्तों के अन्तर्गत आप ही सर्वाधिक प्रशंसनीय हैं; क्योंकि आप दोनों का अतुल प्रगाढ़ कृष्णानुराग सर्व-क्रियारहित परमगतिस्वरूप है। श्रुति कहती है :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठोप० २.३.१०)

अर्थात् पञ्च कर्मेन्द्रियों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन, बुद्धि की समस्त चेष्टाओं के अवरुद्ध हो जाने पर समाधि की अवस्था बन जाती है। प्रेम की चरम परिणति भी यही है। 'सत्यानृते त्यज' ऋत एवं अनृत दोनों का ही त्यागकर कृष्णानुराग में तन्मय हो जाना ही परम पुरुषार्थ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे हैं :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६.२९)

अर्थात् जो मुझमें सम्पूर्ण विश्व को और सम्पूर्ण विश्व में मुझको देखता है वह योगयुक्तात्मा ही समदर्शी है।

'अस्मिन् जगति' जैसा कथन काल-वैशिष्ट्य का भी द्योतक है। विभिन्न अवतार-काल में तत्-तत् लीलापयोगी विभिन्न स्वरूपों में विशिष्ट देवताओं का आगमन होता है।

उदाहरणतः रामावतार-काल में वानररूप से सूर्य-पुत्र सुग्रीव, वायुपुत्र हनुमन्तलाल, ब्रह्मपुत्र ऋक्षराज जाम्बवान्, इन्द्रपुत्र बाली आदिकों का जन्म हुआ। न तो प्राकृत वानर, ऋक्ष आदि 'ज्ञानिनाम् अग्रगण्यम्' हो सकते हैं और न ऐसे

अतुल प्रबुद्ध एवं बलशाली ही होते हैं। इसी तरह कृष्णावतार-काल में भी वेद-श्रुतियाँ ही गोपाङ्गना-रूप में अवतरित हुईं।

नाऽऽरायणाऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी। *(३०)*

आप लोगों ने अखिल जगद्-गुरु साक्षात् नारायण में सुदृढ़ निष्ठा, ऐसी सुदृढ़ प्रीति बना ली है; आपकी यह मति लोकोत्तरा है! सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च से विरत होकर अपने द्रवीभूत अन्तःकरण के द्वारा सर्वान्तरात्मा, सर्वाधिष्ठान, भगवान् को परम अनुराग से ग्रहण कर उन्हीं में अपने रोम-रोम को रंजित कर लेना ही अत्यन्त दुर्लभ लोकोत्तरा मति है।

स्नेह भक्ति नहीं; स्नेह तो संसार में भी होता है। संसार से विरत हो भगवदनुरक्त होना ही भक्ति है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(भाग० ३.२९.११)

अर्थात् सर्वप्राणियों के अन्तःकरणरूप गुफा में रहने वाले परमान्तरात्मा, सर्वेश्वर, भगवान् के प्रति उन्मुख, निर्मल, निष्कलंक अन्तःकरण का समुद्रोन्मुखी गाङ्ग-प्रवाहतुल्य अखण्ड से प्रवाहित होना ही भक्ति है।

ऐसे लोकोत्तरा मति, ऐसे सुदृढ़ कृष्णानुराग के कारण ही नन्दबाबा और यशोदारानी विशेषतः प्रशंसनीय हैं। उनके कारण सम्पूर्ण भक्त-समुदाय ही सम्माननीय हुआ। अतः वे 'मानद', माननीय हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय किसी विशिष्ट लोकोत्तर व्यक्ति के आविर्भाव से विशेष सम्मानित होता है।

उदाहरणार्थ : महर्षि वशिष्ठ से ब्राह्मण-कुल, राघवेन्द्र रामचन्द्र से क्षत्रिय-कुल, तपोनिष्ठ, सत्यनिष्ठ तुलाधार एवं समाधि आदिकों से वैश्य-कुल, महात्मा विदुर से शूद्र-कुल अत्यन्त सम्मानित हुआ—धन्य-धन्य हुआ।

नारायणे, नारस्य अयने, आश्रये नारायणे। महदादि का स्रष्टा जो पुरुषावतार है वही नार है :

नाराज् जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तान्यस्यायतनं यस्मात् तस्मान्नारायणः स्मृतः॥

महाविराट् ही पुरुष है।

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

(भाग० १.३.५)

अर्थात् जैसे किसी अनुपक्षयशील, कभी न सूखनेवाले सरोवर से सहस्रों नहरें निकाली जा सकती हैं, वैसे ही पुरुषावतार से सहस्रों अवतार होते हैं।

पुरुषावतार ही अनेक अवतारों का निधान है, अव्यय बीज है। नार का आश्रय, अधिष्ठान ही नारायण है। श्रीकृष्ण परात्पर परब्रह्म नारायण हैं। अथवा—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

(मनुस्मृति १.१०)

'नार' का अर्थ जल भी होता है। जल ही है आश्रय जिसका वह क्षीरशायी, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, शेष-शय्या पर विराजमान नारायण। अथवा, 'नराणां जीवानां समुदायो नारः'। नर शब्द का एक अर्थ जीव भी है।

नरस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स नारायणः। जिससे जीव-समूह में प्रवृत्ति-प्रेरणा होती है वह नारायण है।

'नारायणाऽखिलगुरौ' नारायण ही 'अखिल जगत् के गुरु हैं।' योग-सूत्र है :

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(१.२६)

सर्वकाल में भगवान् ही सबके गुरु हैं। यहाँ यह अर्थ भी विवक्षित है कि ईश्वर के अनेकानेक स्वरूपों में जो उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है, वही अखिल गुरु सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णस्वरूप है।

श्रीकृष्णस्वरूप में प्रीति होना अर्थात् शरण्य ही शरण ग्रहण करना; शरण्य की शरणागति ही फलीभूत होती है।

विश्वयोनि, वेदान्त-वेद्य, सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, परात्पर परब्रह्म ही एकमात्र शरण्य है। वल्लभाचार्यजी कहते हैं कि प्रमाण बल से ही भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं।

वेद ही प्रमाण-मूर्धन्य हैं; 'वेदमध्याय यद् विधिम्' जिसने ब्रह्मा को भी वेद पढ़ाया, ऐसे वेद-वक्ता होने के कारण भगवान् ही अखिल गुरु हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

(कठोप० १.२.१५)

सम्पूर्ण वेद ही जिसके पद का निरूपण करते हैं।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

(गीता १५.१५)

जो वेदों के द्वारा एकमात्र वेद्य है वह सर्व-वेद-वेद्य होने के कारण सकल सत्-शास्त्रों के महातात्पर्य भगवान् ही प्रमेय भी हैं।

अस्तु, वे ही प्रमाण हैं, और वे ही प्रमेय हैं। प्रमेय प्रेम-बलसंयुक्त हैं। मर्यादा-भक्ति प्रमाण-बल पर आधारित है, प्रेम-भक्ति प्रमेय-बल पर निर्भर है। प्रमाण-बल से प्रमेय-बल उत्कृष्ट होता है। प्रेम-भक्ति ही भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप है। प्रेम से ओतप्रोत अपनी मति के कारण ही नन्दबाबा और नन्द-गेहिनी यशोदारानी विशेषत: प्रशंसनीय हैं।

रसो वै सः।

(तै० उ० २.७)

इस सिद्धान्तानुसार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर, परम रस-स्वरूप, निखिल-रसामृतमूर्ति, अनन्तानन्त रसों के आविर्भाव का उदग्म-स्थल हैं। रस-निर्यासरूप भगवान् ही धर्मी हैं; धर्म के उत्कर्ष से ही धर्मी का उत्कर्ष होता है; धर्म का उत्कर्ष होने पर ही वे परम धर्मी कहलाते हैं। सम्पूर्ण रसों के अन्तर्गत शृंगार-रस ही आधारभूत, अंगी रस हैं; इतर सब रस अंगभूत हैं। विप्रलम्भ में अव्यक्त धर्मविशिष्ट होता है; तात्पर्य यह कि विप्रलम्भ में वृषभानुनन्दिनी, राधा-रानी सर्वदा अव्यक्त रूप से विद्यमान होती हुई प्रकट रूप से अनुपस्थित ही रहती हैं। संप्रयोग-काल में आलंबन, उद्दीपन, संचारी आदि सम्पूर्ण भावों के साथ राधारानी का प्राकट्य होने पर धर्म के साथ धर्मी का प्रादुर्भाव होता है। इस धर्म का लोकोत्तर महत्त्व है। धर्म के उत्कर्ष से भक्ति का उत्कर्ष होता है। इस तथ्य को व्यक्त करने वाले श्रीकृष्ण ही अखिल जगद्-गुरु हैं।

एतौ ही विश्वस्य च बीजयोनी, रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य, ज्ञातस्य चेशात इमौ पुराणौ।

(१०.४६.३१)

बलराम और श्रीकृष्ण दोनों ही पुराण-पुरुष हैं; ये सम्पूर्ण विश्व के उपादान-कारण और निमित्त-कारण भी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पुरुष हैं तो बलराम प्रधान, प्रकृति हैं। ये ही दोनों शरीरों में प्रविष्ट होकर उन्हें जीवन-दान देते हैं और उनमें उनसे अत्यन्त विलक्षण जो ज्ञानस्वरूप जीव है उसका नियमन करते हैं।

नन्दबाबा और नन्दरानी के प्रेमोत्कर्ष से अत्यन्त प्रभावित उद्धवजी ने उनकी सराहना की, परन्तु स्वयं वैकल्य को प्राप्त नहीं हुए; क्योंकि व्रज में उनका आगमन ही विशिष्ट हेतु लिये हुए था।

श्रीकृष्ण-प्रेरणा से उनका व्रज-गमन व्रजवासियों को सांत्वना कर उनके वैकल्य को शान्त करने हेतु हुआ था। ईश-प्रेरणा से ही सम्पूर्ण संसार संचालित है।

उमा दारु-योषित की नाईं। सबै नचावत राम गोसाईं॥

जैसे कोई सूत्रधार कठपुतलियों को स्वेच्छानुसार नचाता है वैसे ही सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, परात्पर प्रभु श्रीकृष्ण भी चराचर संसार को स्वेच्छानुसार ही प्रेरित करते रहते हैं। भक्त का कथन है कि 'अहं यन्त्रं भगवान् यन्त्री' मैं यंत्र हूँ, और तुम उस यंत्र के चालक यंत्री हो।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८.६१)

अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर ही प्राणिमात्र के हृदयदेश में विराजमान रहते हुए यन्त्र-चालक की भाँति उनको चलाते रहते हैं।

उद्धवजी ने श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-भाव का वर्णन प्रारम्भ किया; ऐश्वर्य-भाव के जागरित होने पर प्रेम-प्राखर्य संकुचित हो जाता है; प्रेम-प्राखर्य के संकोचन से तज्जनित विह्वलता में न्यूनता आती है, अतः मूर्छादि नहीं हो पातीं।

एतौ ही विश्वस्य बीजयोनी ये दोनों ही, श्रीकृष्ण और बलराम, संसार के बीज हैं और योनि भी हैं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४.४)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे अर्जुन! मैं हरि सर्वभूतों का का बीज हूँ; मैं ही सर्वभूतों की योनि हूँ; प्रकृति ही योनि है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म

(गीता १४.३)

महत्-शब्दसंयुक्त ब्रह्मपद प्रकृति का बोधक है।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।

(१४.४)

वह महत् ब्रह्म प्रकृति ही मेरी योनि है, मैं ही उसमें बीजप्रद पिता हूँ।

जन्माद्यस्य यतः।—अस्य सर्वस्य नामरूपक्रियात्मक-प्रपञ्चस्य।

सम्पूर्ण नाम-रूप-क्रियात्मक विश्व-प्रपञ्च जिससे उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें प्रविलीन हो जाता है, वह परात्पर परब्रह्म उसका निमित्त-कारण भी है और उपादान कारण भी है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

(ब्र० सू० १.४.२३)

परब्रह्म ही अखिल विश्व का निमित्त-कारण भी है और प्रकृति-स्वरूप में उपादान कारण भी है। 'बीज' का अर्थ है समवायी कारण और 'योनि' का अर्थ है निमित्त-कारण।

'विश्वस्य च बीजयोनी' पद में प्रयुक्त चकार से अन्य अवतारों को इङ्गित करते हैं। 'चकारात् सर्वावतारान् लक्षयति', तात्पर्य यह कि ये ही विश्व-प्रपञ्च के समवायी और निमित्त कारण भी हैं और साथ ही अन्य सम्पूर्ण अवतारों के बीज हैं। इन्हीं से विभिन्न अवतारों का प्राकट्य होता है। 'पुरुषः प्रधानम्' में पुरुष और प्रधान दोनों हैं; 'प्रधान' अर्थात् प्रकृति।

सामान्यतः कहा जाता है कि सीता प्रकृति और राम पुरुष हैं; परन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह कथन सिद्ध नहीं होता।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यत् शरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

(श्वेता० ५.१०)

आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न ही नपुंसक है। वह जब भी जैसा शरीर धारण कर लेता है तब वैसा ही कहलाने लगता है। आत्मा ब्रह्म का अंश और देह, मन, बुद्धि, अहंकार प्रकृति का अंश है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी, दानव-मानव, देवता, स्त्री-पुरुष, नपुंसक समस्त प्राणि मात्र पुरुष एवं प्रकृति का संयुक्त रूप है।

एकं ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

एक ही अखण्ड ब्रह्म राधा और माधव दो स्वरूपों में प्रादुर्भूत हुआ है। श्रुति कहती है—

त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(श्वेता० ४.३)

तुम ही कुमार हो, तुम ही कुमारी हो, तुम ही दण्ड भ्रमण कर चलने वाले वृद्ध हो।

यहाँ कुमार, कुमारी एवं वृद्ध उपलक्षणमात्र हैं। इनका प्रयोग परिवर्तनशील जगत् का द्योतक है।

सारांश यह है कि विश्वतोमुख होकर आप ही अनेकानेक रूपों में प्रकट हैं। अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परमात्मा ही राम एवं सीता और श्रीकृष्ण एवं राधारूप से आविर्भूत होते हैं। यथार्थतः सीता प्रकृति और राम पुरुष अथवा राधा प्रकृति और कृष्ण पुरुष हैं, यह कथन सापेक्ष है।

नीलकण्ठजी का कहना है—'साधिष्ठाना' प्रकृति अथवा शक्तियुक्त पुरुष दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। साधिष्ठाना शक्ति में शक्ति का प्राधान्य है और पुरुष विशेषण है; शक्तिमद्-ब्रह्म में शक्ति विशेषण और पुरुष विशेष्य है। इस तरह प्राधान्याप्राधान्य अभिप्राय से पुरुष का प्राधान्य हो पर शक्तिमत्-ब्रह्म तथा प्रकृति का प्राधान्य होने पर साधिष्ठाना शक्ति कहा जाता है।

इसी अभिप्राय से सीता प्रकृति और राम पुरुष अथवा राधा प्रकृति और श्रीकृष्ण पुरुष कहे जाते हैं। प्रकृति-संयुक्त पुरुष अथवा पुरुष-संयुक्त प्रकृति ही पूजनीय है; प्रकृति-विच्छिन्न पुरुष अथवा पुरुषविच्छिन्न प्रकृति की पूजा संभव नहीं। शक्तिरहित शिव शव है और शिवरहित शक्ति जड़ अकिञ्चित्-वत् है। अस्तु, स्त्री-पुरुष दोनों के सामञ्जस्य पर ही संपूर्ण सृष्टि-व्यवस्था अवस्थित रहती है।

विश्व के सम्पूर्ण सुख-दुःखों का भोक्ता पुरुष ही होता है; सुख-दुःख का ज्ञान ही भोक्तृत्व है। अतः ज्ञातृत्व अथवा साक्षात्-कर्तृव्य ही भोक्तृत्व है। प्रकृति जड़ है, अतः उसका अपना कोई धर्म नहीं होता। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार भोक्तृत्व की भाँति कर्तृत्व भी काल्पनिक ही मान्य है; तथापि जैसे कर्तृत्व आत्मनिष्ठ स्वीकृत है वैसे ही भोक्तृत्व भी आत्मनिष्ठ स्वीकृत है।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण और बलराम एक ही तत्त्व होते हुए दो रूपों में प्रादुर्भूत हैं; बलराम अव्याकृत ब्रह्म है, लक्ष्मण और शेष भी अव्याकृत ब्रह्म है।

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने, महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते, भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः॥

(भाग० १०. ३. २५)

अर्थात् द्विपरार्ध के अन्त में, ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर लोक नष्ट हो जाते हैं। उस समय पंच महाभूत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश अहंतत्त्व में विलीन हो जाते हैं; अहंतत्त्व एवं महत्-तत्त्व दोनों ही व्यक्त हैं; कालवेग से ये दोनों ही क्रमशः अव्यक्त तत्त्व में प्रविलीन हो जाते हैं; उस समय शेष संज्ञावान् केवल आप ही आप रहते हैं।

संज्ञा अर्थात् ज्ञान; समस्त पदार्थों का ज्ञान केवल आपमें ही स्थित है, अतः आप ही अशेष-संज्ञ हैं। 'अशेषाणां प्राणिनां कर्मणां वस्तूनां संज्ञा ज्ञानं यस्मिन् अविशिष्यते' सम्पूर्ण प्राणियों के सम्पूर्ण कर्मों का, सम्पूर्ण देह-लिंगादि शरीरों का,

सम्पूर्ण संज्ञा अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान जिसमें स्थित है वही शेष है। प्रलय होने पर सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का जिस कारण-ब्रह्म में विलय हो जाता है वही अव्याकृत है। नाम-रूप-व्याकरण से पूर्व की दशा नाम-रूप का उत्पत्ति-कारण ही अव्याकृत है। यही बीजावस्था है।

तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।

(म० भाग० १२.३३४.३१)

अर्थात् त्रिगुण अव्यक्तांश भी उत्पन्न होता है; तात्पर्य यह कि कार्योन्मुख हो जाता है। कार्योन्मुख अव्यक्त भी धरती, जल, अनिल, वायु एवं आकाश के संयोगसे अंकुरोत्पत्त्योन्मुख बीज की भाँति उत्फुल्ल हो जाता है।

अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।

(भाग० १२.११.१३)

शेषयायी भगवान् शेष की जिस शय्या पर शयन करते हैं वही शेष है, वही अनन्त है, वही अव्याकृत है।

अक्षरात् परतः परः।

(मुण्डक० २.१.२)

पर अक्षर से भी जो पर है, अव्याकृतरूप शय्या पर शयन करने वाला, शय्या से पर अव्याकृत से भिन्न ही परात्पर है। अव्याकृत ब्रह्म अथवा केवल प्रकृति ही पर-अक्षर है।

अव्याकृत ब्रह्म भी चैतन्य-संयुक्त ही है; तथापि उनमें प्राधान्य प्रकृति का है। अतः बलराम को प्रधान और श्रीकृष्ण को पुरुष कहा गया है।

'अन्वीय भूतेषु' जो सर्वभूतों में अन्वित है; तात्पर्य यह कि जो प्राणिमात्र में अन्तर्यामी रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं।

'विलक्षणस्य ज्ञानस्य' विः कालः लक्षणं यस्य सः विलक्षणः अभ्युदयः'। काल ही जिसका लक्षण है वह विलक्षण ही अभ्युदय है; तात्पर्य यह कि अभ्युदय काल पर निर्भर है। बलरामरूप अव्याकृत की आराधना से अभ्युदय होता है। लौकिक उन्नति ही अभ्युदय है। अभ्युदय हेतु भगवदनुग्रह अनिवार्य है; तथापि प्रधानता प्रधान की बनी रहती है।

ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ। ज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य ज्ञानस्य।

मोक्ष का साधन ज्ञान और भक्ति के नियामक ईश। यहाँ 'ज्ञान' उपलक्षण है। चकार पद के प्रयोग से भक्ति भी इंगित है। भगवदनुग्रह से ही मोक्ष और भक्ति की प्राप्ति होती है। जीव के भगवदुन्मुख होने पर भगवत्-कृपा अवश्य ही होती है। ये

दोनों बलराम और श्रीकृष्ण समस्त अभ्युदय और नि:श्रेयस के नियामक हैं।

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥

(१०. ४६. ३२)

प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य जो जीव मृत्यु के समय अपने अविशुद्ध मन को एक क्षणमात्र के लिए भी उनमें लगा लेता है वह समस्त कर्म-वासनाओं से मुक्त होकर सूर्य के समान तेजस्वी और ब्रह्ममय हो जाता है तथा ब्रह्म-गति को प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(बृहदारण्यक ४.४.६)

अर्थात् अन्त:करण में निहित सभी कामनाओं से छूट जाने पर प्राणी अजर-अमर होकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। आत्मा-अनात्मा अथवा सत्यानृत की यह ग्रन्थी यद्यपि सर्वदा-सर्वथा मिथ्या है; तथापि इसका छूटना अत्यन्त दुरूह है।

जड़ चेतन ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

(श्रीरामचरितमानस)

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्। यहाँ 'यस्मिञ्जन:' का अर्थ है जो कोई; तात्पर्य यह है कि जन-सामान्य; ब्राह्मण हो अथवा चाण्डाल ही क्यों न हो, जो भी प्राण-प्रयाणकाल में एक क्षण के लिए भी भगवत्-स्वरूप में मन लगा लेता है वह उस स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है।

'मनो विशुद्धम्' यहाँ अकारका प्रश्लेष करें तो **मनोऽविशुद्धं अविशुद्धमपि मनः।**

अर्थात् अविशुद्ध मन से भी ध्यान कर लेने पर अशेष कल्याण होता है। ऐसे कथन से भक्त को आश्वासन मिलता है। भगवत्-प्राप्ति के लिए मन की निर्मलता का प्रयास अनिवार्य है; तथापि अमलात्मा होना अनिवार्य नहीं है। प्रत्येक भक्त के हृदय में अपने इष्टदेव की मानसी मूर्ति की कल्पना होती है; इस मनोमयी मूर्ति से ही क्रमशः स्वप्रकाश तेजोमय ब्रह्मस्वरूप स्वत: प्रस्फुटित होने लगता है।

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(भाग० ३.९.११)

अर्थात् आप ही (भगवान् ही) भावयोग-परिष्कृत हृत्-सरोज में आश्रयरूप से विराजमान होते हैं। भगवत्-चरित्र एवं दिव्य गुण-गुणों के श्रवण-मनन से आपकी मनोमयी मूर्ति बनाकर आपके आगमन की प्रतीक्षा में रत भक्त की अनुरागिणी बुद्धि का अनुसरण करते हुए आप ही तत्-तत् रूप में प्रस्फुटित हो जाते हैं।

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥

(१०.१२.३९)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के किसी एक अंग की प्रतिमा यदि ध्यान के द्वारा एकबार भी हृदय में प्रतिष्ठित कर ली जाय तो वह श्रेष्ठातिश्रेष्ठ भक्तजनों को प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सामीप्य आदि गति प्रदान करती है, भगवान् आत्मानन्द के नित्य साक्षात्कारस्वरूप हैं।

माया उनके पास फटक भी नहीं सकती। वे ही स्वयं अघासुर के शरीर में प्रवेश कर गये। क्या अब भी उसकी सद्गति के विषय में कोई सन्देह है?

निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः।

जिसका मन मरण-काल में क्षणमात्र के लिए भी इस मानसी मूर्ति में लग जाता है उसके सम्पूर्ण कर्माशयों का शीघ्र ही निर्हरण हो जाता है और वह ब्रह्म-भावापन्न होकरसूर्य की भाँति प्रकाशित होता है। 'अन्यान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते।' वह सूर्य की भाँति अन्य को प्रकाशित करते हुए स्वयं भी प्रकाशित रहता है। जैसे पारस मणि के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है वैसे ही मानसी-मूर्ति में क्षणमात्र के लिए जिसका मन लीन हो जाय उसका जीव-भाव नष्ट हो जाता है और वह ब्रह्म-भावापन्न हो जाता है।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

(भाग० ११.१४.२६)

अर्थात् जैसे विशिष्ट अञ्जन के प्रयोग से चक्षु निर्दोष होकर सूक्ष्म वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं वैसे ही भगवान् की लोकोत्तर महिमा, उनके दिव्य-चरित्र और मंगलमय कल्याण-गुण-गणों के श्रवण-मनन से मन का परिमार्जन हो जाता है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

(भाग० ११. २. ४३)

अर्थात् जैसे भोजन करते हुए प्राणी को प्रत्येक ग्रास के साथ तुष्टि-पुष्टि की प्राप्ति होती जाती है वैसे ही भगवत्-कथा श्रवण-मनन से, भगवान् के मंगलमय चरणारविन्दों में भक्ति उद्भूत होती और सांसारिक विषयों से विरक्ति होती जाती है।

उस प्राणी के सम्पूर्ण कर्माशय, कार्य-करण-संघात का विधूनन हो जाता है और उसें तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे वेणु-समुदाय में उत्पन्न अग्नि उस समूह को भस्म करती हुई स्वयं भी शान्त हो जाती है वैसे ही वह प्राणी भी 'ब्रह्ममय: सत् ब्रह्मभावमप्येति' ब्रह्मभाव को प्राप्त ब्रह्ममय हो जाता है।

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्॥

(१०.४६.३३)

वे ही स्वयं भगवान् जो सर्वान्तरात्मा हैं, सबके परम-कारण हैं, भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने और पृथ्वी का भार उतारने के लिए मनुष्य-शरीर धारण कर अवतरित हुए हैं। उनके प्रति आप दोनों का ऐसा सुदृढ़ वात्सल्य-भाव है; ऐसे आप महात्माओं के लिए अब कौन सुकृत्य शेष रह गया?

अखिलात्महेतौ, अखिलस्य आत्मा हेतुश्च तस्मिन्।

जो समस्त प्राणियों का आत्मा और हेतु है। जैसे समुद्र से अनन्तानन्त तरंगों अथवा अग्नि से अनेकानेक स्फुलिंगों का प्रादुर्भाव होता रहता है वैसे ही सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण से सम्पूर्ण विश्व का आविर्भाव होता है। भगवत्-स्वरूप से ही जीवों के औपाधिक रूप अन्तःकरणविशिष्ट अनन्त जीवों का आविर्भाव होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं :

सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।

मैं सत्य कहता हूँ कि आप ही सम्पूर्ण विश्व के अन्तरात्मा हैं।

नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ। नारस्य अयनो नारायणः। जीवसमूह का आश्रय, नारायण जो अखिल ब्रह्माण्ड के अधिष्ठान और कारण हैं वे ही मर्त्यरूप में, मनुष्यरूप धारण कर आविर्भूत हुए हैं।

भावं विधत्तां नितरां महात्मन्।

इस निराकार परब्रह्म में आप दोनों को ऐसा सुदृढ़ अनुराग है, अतः आप धन्य-धन्य हैं।

वैष्णव-सिद्धान्तानुसार परब्रह्म की ऐश्वर्यमयी मूर्ति की अपेक्षा मर्त्यमूर्ति की ही महिमा अधिक है। यह मर्त्य-मूर्ति भी द्विविधा है। द्वारिका में श्रीकृष्ण अपने

चतुर्भुज स्वरूप से ही विराजमान होते हैं; मथुरा में उनका प्राकट्य ही चतुर्भुज-स्वरूप में हुआ, अतः वहाँ भी उनके ऐश्वर्यमय स्वरूप का ही प्राधान्य है; किन्तु गोकुल में सदा ही द्विभुजधारी, मर्त्य-स्वरूप में विराजमान होते हैं। वहाँ उनके बाल-केलि-परायण, मुरली-वादन-परायण, रासलीला-परायण आदि विविध माधुर्यपूर्ण स्वरूपों का ही विकास होता है। भगवान् के ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप के ज्ञान से भक्त उनकी मर्यादा के प्रति प्रतिक्षण सजग रहता है, अतः उसका प्रेम संकुचित हो जाता है। किन्तु माधुर्य-पूर्ण स्वरूप में सहज ही मर्यादा-भाव का प्राबल्य हो जाता है। एतावता मर्यादा अथवा वैधी भक्ति की तुलना में रागानुगा भक्ति ही उत्कृष्टतर मान्य है।

'किं वाऽवशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्' आप लोगों के लिए अब कौन सुकृत्य शेष रह गया है? तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण सत्कर्मों के फलस्वरूप श्रीकृष्ण में आप दोनों को ऐसी सुदृढ़ नित्य-प्रीति है, साथ ही आपने अनुरागभरी दृष्टि से उनको निहारा भी है, अतः आपने सर्व-प्रापणीय को प्राप्त कर लिया है। अब आप दोनों के लिए न कुछ प्रापणीय है, न कुछ सम्पादनीय है। आप दोनों धन्य-धन्य हैं।

इतना कुछ कह चुकने पर उद्धवजी को भासित होता है कि नन्दबाबा और यशोदारानी दोनों की ही श्रीकृष्ण में रागानुगा प्रीति है। फलस्वरूप उन दोनों को उनके ऐश्वर्यमय स्वरूप का आभास नहीं होता; वे दोनों तो मात्र इतना ही जानते हैं कि श्रीकृष्ण हमारे लाड़ले लाल हमसे दूर, बहुत दूर मथुरा चले गये हैं; लोकोत्तर गुण-सम्पन्न, लोकोत्तर शक्तिसम्पन्न अनन्त, अनन्त माधुर्य-परिपूर्ण अपने लाड़ले लाल के वियोग में वे संतप्त हैं। ऐसे अनोखे पुत्र के वियोग मेंभी जीवित रहने के कारण वे अपने को धिक्कारते ही हैं; अतः उद्धव पुनः कह रहे हैं :

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥

(१०.४६.३४)

भक्तवत्सल, यदुवंश-शिरोमणि श्रीकृष्ण बहुत शीघ्र ही व्रज लौटेंगे और अपने माता-पिता आप दोनों को आनन्दित करेंगे। वे 'सात्वतां पतिः' सात्वतों के स्वामी, अर्थात् भक्त-वत्सल भी हैं। 'सत् निर्विकारं परब्रह्म ध्येयत्वेन अस्ति अस्य इति सत्वान्' परब्रह्म ही ध्येयत्वेन जिसका सर्वस्व हो वही सत्वान् है; सत्वानों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण भक्त-वत्सल हैं अतः निश्चय ही वे व्रज आयेंगे।

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्॥

(१०.४६.३५)

समस्त यदुवंशियों के द्रोही कंस को रंगभूमि में ही मारकर उन्होंने आपके पास आकर कहा था कि मैं शीघ्र ही आऊँगा। निश्चय ही वे अपनी वाणी सत्य करेंगे।

इतना कुछ कह चुकने पर भी उद्धव अनुभव करते हैं कि नन्दबाबा और यशोदारानी की व्याकुलता में किञ्चित्-मात्र भी न्यूनता नहीं आ रही है; अपितु अत्यन्त शोकाकुल हो वे अपने को हत-भाग्य ही मान रहे हैं। वे जान रहे हैं कि ऐसे सत्य-निष्ठ, मातृ-पितृ-भक्त अनोखे लाल को पाकर भी हम अपने ही दुर्भाग्य के कारण उसको अपने पास न रख सके और वह हमसे दूर, बहुत दूर चला गया है।

अनन्य भक्तों का ऐसा ही स्वभाव होता है; वे अपने में ही दोष-दर्शन करते हैं।

गुन तुम्हार समुझहिं निज दोसू। जेहिं सब भाँति तुम्हार भरोसू॥

उन दोनों की इस गम्भीर प्रेम-विह्वलता का अनुभव कर उद्धवजी ने भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन पुनः प्रारम्भ किया; क्योंकि ऐश्वर्य-प्रवाह से माधुर्य-प्रवाह स्वभावतः कुछ संकुचित हो जाता है।

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि॥
(१०.४६.३६)

आप लोग परम भाग्यशाली हैं, आप खेद न करें। आप सदा ही भगवान् श्रीकृष्ण को अपने पास ही देखें; जैसे काष्ठ में अग्नि सदा व्यापक रूप से रहती है वैसे ही वे भी समस्त प्राणियों के हृदय में सदा रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण की लीला दो विभिन्न प्रकार की मान्य है। एक प्रकट और दूसरी अप्रकट। अप्रकट-लीलान्तर्गत मान्यता है कि वे व्रजधाम त्यागकर 'पदमेकं न गच्छति' एक पग भी कहीं नहीं जाते। प्रकट लीलानुसार ही उनका मथुरा-गमन मान्य है। तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्ण सदा ही व्रजधाम में विराजमान हैं, अन्तर्मुख होने पर उनका दर्शन सम्भव होता है।

निर्गुण, निराकार, परात्पर परब्रह्म की भाँति ही सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन-स्वरूप भी सर्वव्याप्त है। अपनी बाल-लीलाओं के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी सर्व-व्यापकता का अनुभव यशोदा मैया को कराया है। बालक कन्हैया गोपियों का दूध-मक्खन चुराते हैं; गोपियाँ नन्दरानी को उलाहना देती हैं; कुछ यशोदारानी अपने पुत्र को बाँधने का उपक्रम करती हैं; जितनी भर भी रस्सी वे जोड़ती जाती हैं, वह हर बार दो अंगुल कम पड़ जाती है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की विभुता-शक्ति का प्राकट्य हो जाता है।

सर्व-व्यापक, अपरिच्छिन्न क्योंकर बाँधा जा सकता है ? इस लीला का विश्लेषण करते हुए 'आनन्द-चम्पू' के रचयिता लिखते हैं : 'भगवज्जनपरिश्रम: भगवदनुकम्पा' अर्थात् भक्त-कर्तृक परिश्रम और भगवत्-अनुकम्पा का अभाव ही श्रीभगवान् को बाँधने वाली रस्सी का दो अंगुल कम पड़ जाना है। भक्त के प्रयासशील होने पर ही भगवत्-अनुकम्पा होती है; भक्त समर्पण करता है, भगवान् अनुग्रह करते हैं। परिणामत: सर्वाधिष्ठान, सर्व-कारण, सर्व-व्याप्त परमात्मा ही स्नेह-रज्जु में बँध जाते हैं।

एक अन्य बाललीला है; कन्हैया ने मिट्टी खायी; लाला के मिट्टी खाने से क्रुद्ध माँ यशोदा हाथ में छड़ी लिये उनको ताड़ना देने के लिए उद्यत हुईं। भय से कन्हैया का मुँह खुल गया; ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति के कारण यशोदामैया ने अपने बालक के मुँह में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन किया। वे भयभीत हो गयीं और उनके हाथ से छड़ी छूट गयी; तभी श्रीकृष्ण अपनी वैष्णवी माया को प्रसारित कर उनमें पुन: वात्सल्य-भाव का स्फुरण करते हैं। इस लीला से श्रीकृष्ण का सर्व-व्यापी रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

गर्गाचार्यजी महाराज इसका विश्लेषण करते हैं : जैसे वृक्ष और घट दोनों ही पृथ्वी से उत्पन्न हैं, फिर भी वृक्ष का काष्ठ प्रज्वलित हो सकता है, मिट्टी का घट प्रज्वलित नहीं हो सकता। काष्ठ जल पर तैरता रहता है परन्तु घट जल में डूब जाता है; क्योंकि दोनों विभिन्न तत्त्वप्रधान हैं। काष्ठ में अग्नि और जलतत्त्व प्रधान है और भू-तत्त्व गौण है। अग्नि-तत्त्व के प्राधान्य से काष्ठ पर अग्नि का प्राकट्य हो जाता है और वह प्रज्वलित हो जाता है। काष्ठ के जल जाने पर भस्मरूप से जो अवशिष्ट रह जाता है वही उसका पार्थिवांश है। इसी तरह जल-तत्त्व के प्राधान्य के कारण काष्ठ जल पर तैरता रहता है।

घट भूतत्त्वप्रधान है, अत: वह जल में लीन हो जाता है। इसी तरह समष्टि प्राण सूत्रात्मा ही सर्व-प्राण देह-इन्द्रियों का धारक होते हुए भी धारक अन्तर्यामी के अभाव में सर्वथा असमर्थ है।

तस्मिन् परमात्मनि भगवति सति मातरिश्वा अप:
कर्माणि प्राणिनां चेष्टा लक्षणानि दधाति।

वह्नि आदिकों का धारण, ज्वलन, तपन आदि चेष्टाएँ और हस्त-पादादिकों की अनेकानेक चेष्टा-लक्षण कर्मों को हिरण्यगर्भ धारण करता है। जैसे कुलाल घट का निर्माण निराधार नहीं कर सकता वैसे ही हिरण्यगर्भ भी सर्वान्तर्यामी परमात्मा के आधार पर ही 'अप्' पद-वाच्य लोकों को धारण करने में समर्थ है। तत्-तत् हिरण्यगर्भ रूप से तत्-तत् वस्तुओं की अवान्तर चेष्टाएँ होती हैं; अवान्तर

कार्य होते हैं। जीवरूप में भी तत्-तत् वस्तुओं का धारण और तत्-तत् चेष्टाओं का स्फुरण होता है। अस्तु, सर्वधारक परमात्मा सर्वान्तर्यामी एवं सर्व-व्यापक है।

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥

(१०.४६.३७)

किसी एक शरीर के प्रति अभिमान न होने के कारण न तो कोई उनका प्रिय है, न कोई अप्रिय ही है। वे सबमें हैं, और सबके प्रति समान हैं। अतः उनकी दृष्टि में न कोई उत्तम है, न कोई अधम अथवा मध्यम ही है। इतना ही नहीं, विषमता का भाव रखनेवाला भी उनमें विषम नहीं है।

जगत् में प्रेम हेतु पर निर्भर होता है। जीव देहादिक अभिमान और जगत् में प्रयोजन के कारण अपनी विभिन्न कामनानुसार तत्-तत् व्यक्ति को प्रिय या अप्रिय मान लेता है। देहादि अहंकार-शून्य और जगत् में प्रयोजन न होने के कारण परमात्मा के लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय ही है। इसी तरह उनके लिए न कोई उत्तम है, न मध्यम, न अधम। वस्तु-दृष्ट्या सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च ही असत् है; तथापि व्यवहार-दृष्ट्या उत्तम, मध्यम, अधम आदि स्थितियाँ मान्य होती हैं।

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च॥

(१०.४६.३८)

उनका न कोई माता है, न कोई पिता है; न भार्या है, न पुत्रादि हैं। न कोई उनका आत्मीय है, न कोई पराया है। न उनका जन्म ही होता है और न उनका देह ही है।

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥

(१०.४६.३९)

इस लोक में उनका कोई कर्म नहीं है, फिर भी वे साधुओं के परित्राण के लिए और लीला-हेतु सात्त्विक, तामस एवं मिश्र योनियों में शरीर धारण करते हैं। देवतादिक सत्त्व-प्रधान सात्त्विक योनि हैं; पशु-पक्षी आदि तमः-प्रधान तामस योनियाँ हैं और मानव मिश्र-योनि है।

लोकों में विचरण करने वाला परमात्मा ही लोकवान् है। परमात्मा का लोक-निर्मातृत्व जगत्-सम्बन्धित्व लीलामात्र है। उनका कोई कर्म नहीं है।

अघटित-घटना-पटीयसी, मंगलमयी भगवती मायाशक्ति के द्वारा उनमें लीला प्रतीत होती है। वेदान्तसिद्धान्तानुसार निर्गुण, निराकार ब्रह्म विशुद्ध सत्त्व के

योग से सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघनस्वरूप में प्रकट हो जाते हैं। विशुद्ध-सत्त्व ही माया है।

मुक्त-मुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥

मुक्त मुनीन्द्र जन जिसको खोजते हैं ऐसे लोकोत्तर फल को अपराजिता कल्पलतारूपिणी देवकी ने फला; यशोदा ने उसका पालन-पोषण किया और गोपाङ्गनाजनों ने उसका रसस्वादन किया। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं :

बंदऊ कौसल्या दिसी प्राची।
कीरति जासु सकल जग माची॥

विशुद्ध सत्त्वात्मिका कौशल्यारूप प्राची दिशा से राघवेन्द्र रामचन्द्र का उदय हुआ। प्राची दिशा के संसर्ग का यत्किञ्चित् विच्छेद हो जाने पर चन्द्रमा अपूर्ण रह जाता है। विशुद्ध सत्त्वात्मि का कौशल्या अथवा देव-रूपिणी देवकीरूप प्राच दिशा से उदय होने वाले राघवेन्द्र रामचन्द्र तथा श्रीकृष्णचन्द्र ही सदसद्-भिन्न परात्पर परब्रह्म हैं।

वैष्णव सिद्धान्तानुसार भगवान् की अनेकानेक शक्तियाँ मान्य हैं। ये शक्तियाँ भी दो प्रकार की हैं : एक बहिरंग अथवा प्रकृति-शक्ति जो त्रिगुणात्मिका, सत्त्व, रज एवं तमोमयी हैं; दूसरी आल्हादिनी संवित् आदि अंतरंगा शक्तियाँ जो अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं।

अपनी दिव्य लीला-शक्ति के योग से ही भगवान् अवतरित होते हैं। इस अभिप्राय से ही नन्दबाबा और यशोदा-रानी उनके पिता-माता, दाऊ उनके भैया, ग्वाल-बाल उनके सखा एवं गोपियाँ उनकी प्रिय सखियाँ, साधु एवं भक्तजनों पर उनका अनुग्रह तथा दुष्ट असुरादिकों का उनके द्वारा संहार मान्य है।

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥

(१०.४६.४०)

भगवान् अजन्मा हैं; उनमें प्राकृत सत्त्व, रज, तम तीनों में-से एक भी गुण नहीं हैं; त्रिगुणातीत होने पर भी वे लीला-हेतु इन तीनों गुणों का अनुसरण करते हैं। जैसे अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक मणि भी विभिन्न रंगों के सन्निधान से तत्-तत् रंग की भासित होने लगती है। वैसे ही, परात्पर परब्रह्म त्रिगुणातीत है तथा गुणों के सन्निधान से उनमें भी गुणों की प्रतीति होने लगती है। उनमें गुणों का कार्य अथवा अकार्य नहीं होता, वे सदा असंश्लिष्ट ही हैं।

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः॥ *(१०.४६.४१)*

जैसे घुमरी-परेबा खेलते हुए बालक को अथवा वेग के साथ चक्कर लगाते हुए व्यक्ति को सम्पूर्ण पृथ्वी ही घूमती प्रतीत होती है, वैसे ही भ्रमवशात् चित्त में अहंबुद्धि हो जाने के कारण उसे अपना आत्मा मानकर ही जीव अपने को कर्ता एवं भोक्ता मानने लगता है।

यथार्थतः चित्त ही कार्य-रत होता है। सत्त्व, रज एवं तम गुण रूप उपाधिसापेक्ष अखण्ड-चैतन्य में तत्-गुणों का प्राबल्य होने पर तत्-तत् गुण-उपहित चैतन्य गुण-विशेष का अनुसरण करता प्रतीत होता है। यथार्थतः आत्मा अजर-अमर, अखण्ड, सर्व-व्यापक, सर्व-प्रकाश, बोध-स्वरूप है। चित्त के कर्तृत्व से ही आत्मा अकर्ता होता हुआ भी कर्ता भासित होता है।

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥

(१०. ४६.४२)

भगवान् श्रीकृष्ण केवल आप दोनों के पुत्र नहीं हैं; वे समस्त प्राणियों के आत्मा, माता-पिता, पुत्र और सुहृद्-स्वामी हैं। अजर, अमर अखण्ड ब्रह्म सर्वव्यापक है, तथापि जीव दीन-दुःखारी होकर संसार में भटकता है।

व्यापक विरज ब्रह्म अविनासी। सत् चेतन घन आनन्द रासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। फिरहीं जीव जग दीन दुःखारी॥

(श्रीरामचरितमानस)

वेद कहते हैं—**स एनमविदितो न भुनक्ति।**

(बृह० १.४.१५)

देव अविदित होकर रक्षा नहीं करते; तात्पर्य यह कि जब तक साक्षात्कार न हो तब तक देव कल्याणकारी नहीं होते। अन्तरात्मा ही देव है। उदाहरणतः मानो कि किसी अत्यन्त गरीब की झोपड़ी में धरती के नीचे अतुलित धन-राशि गड़ी हुई है; वह गरीब उस धन-राशि के अस्तित्व से अनभिज्ञ है; अपने अज्ञान के कारण ही वह अर्थाभाव को भोगता हुआ दीन-दुःखारी बना रहता है; परन्तु उक्त धन-राशि का ज्ञान होते ही वह सम्पूर्ण दुःख-दारिद्र्य से मुक्त हो धनवान हो जाता है। ठीक इसी तरह सर्वाधिष्ठान, सर्व-व्यापक, परात्पर, परब्रह्म प्राणिमात्र में सर्वान्तर्यामी होते हुए भी आत्म-ज्ञान के अभाव में अविदित रह जाने के कारण कल्याणकारी नहीं हो पाते।

प्राणिमात्र में ब्रह्म अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है, तथापि मायारूपी आवरण से आच्छादित है। जैसे वृक्ष अथवा बादल आदि के सामने आ जाने से प्रखर सूर्य का स्वरूप भी आच्छादित हो जाता है वैसे ही माया-यवनिका से सर्वबोध-स्वरूप

आत्मा भी परावृत्त हो जाता है। अखण्ड, अनन्त परब्रह्म की लीला-शक्ति ही विशुद्ध सत्त्व है। विशुद्ध सत्त्व से परमात्मा आवृत नहीं होता अपितु और भी चमत्कृत रूप में प्रादुर्भूत होता है।

जैसे दूर-वीक्षण यंत्र अथवा चश्मे के काँच से सूर्य-स्वरूप आवृत न होकर और भी प्रखर रूप से दृष्ट होता है; जैसे अज्ञान से भी अमृत-पान करने से अमरत्व और विष-पान से मृत्यु अवश्यम्भावी है; क्योंकि वस्तु-शक्ति ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण के परात्पर परब्रह्म स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हुए भी उनको भजने वाले उनको ही प्राप्त होते हैं। अस्तु, वे केवल आप दोनों के ही नहीं, अपितु सर्वात्मज हैं; साथ ही सबके माता-पिता भी हैं।

तात्पर्य यह है कि यर्थाथतः भगवान् श्रीकृष्ण त्रिगुणातीत हैं; तथापि अपनी दिव्य-लीला-शक्ति शुद्ध-सत्त्व के योग से आपके पुत्ररूप में प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः वे आप के ही पुत्र हैं; वे भी आपको अपने माता-पिता मानते हुए आपमें पितृवत्-भाव रखते हैं। यही कारण है कि उन्होंने मुझको आप लोगों का प्रिय करने के लिए भेजा है।

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः॥

(१०.४६.४३)

जो कुछ देखा या सुना जाता है वह भूत, भविष्य या वर्तमान से संबद्ध हो, स्थावर अथवा जंगम हो, महान् अथवा अल्प हो, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त से पृथक् हो। श्रीकृष्ण ऐसा कुछ नहीं जिसे वस्तु कहा जा सके; यथार्थतः वे ही परमार्थ सत्य हैं।

वेदान्त-सिद्धान्त है : 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति शान्त उपासीत' (छान्दोग्य ३-१४-१) 'तज्जं च तल्लं च तदनं च' संपूर्ण जगत् ही परमात्मा से उत्पन्न होता है। परमात्मा में ही स्थिर रहता है, परमात्मा में ही विलीन हो जाता है। जैसे महासमुद्र में अनेकानेक तरगें उद्भूत होती हैं, स्थित होती हैं और विलीन हो जाते हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य एवं श्रुत प्रपञ्च—चाहे वह भूत, भविष्य या वर्तमान से सम्बद्ध हो, चंचल अथवा जंगम हो, महत् कालादि, दिगादि हो अथवा अल्प हो, उन सबका अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा के बिना अस्तित्व संभव नहीं। 'स एव सर्वं परमार्थभूतः' अधिष्ठान की उपेक्षा से कल्पित वस्तु का सत्त्व-व्यवहार संभव नहीं।

जासु सत्यता से जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(श्रीरामचरितमानस)

अधिष्ठानभूत परब्रह्म की सत्ता से ही माया और उसके कार्य में सत्ता एवं स्फूर्तिमत्ता की प्रतीति होती है। 'अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया: कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्'—अधिष्ठान-सत्ता-व्यतिरिक्त कल्पित सत्ता अंगीकृत नहीं होती। 'अच्युताद् विना वस्तु तरां न वाच्यम्'—अच्युत के बिना कोई वस्तु तरां नहीं कही जा सकती। जैसे यथार्थ-बोध होने पर रज्जु में सर्प की अथवा मृगमरीचिका में जल के भ्रम का बोध हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठानभूत परमात्मा परब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च का बाध हो जाता है और एकमात्र सर्वाधिष्ठान परमात्मा ही सिद्ध रहता है।

साधन-चतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति ही ऐसे ब्रह्म-ज्ञानोपदेश का पात्र है। उपनिषद्-वाक्य हैं :

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजत:॥

(महोप० ५.१०५)

अज्ञ अथवा अर्ध-प्रबुद्ध के लिए जो 'सर्वं ब्रह्म' का उपदेश करता है वह उसको घोरतम नरक में भेजने का साधन प्रस्तुत कर देता है।

भारतवर्ष में दो प्रकार के दार्शनिक हुए हैं; एक चार्वाक और दूसरे शंकराचार्य। चार्वाक का सिद्धान्त है कि 'यत् दृष्टं तत् सत्, यददृष्टं तदसत्' जो दीखता है वही सत्य है; जो नहीं दीखता वह असत्य है। शंकराचार्य कहते हैं: 'जगत् मिथ्या, ब्रह्मैव सत्यम्' सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। वह अदृष्ट है, क्योंकि सर्वद्रष्टा है। जैसे द्रष्टा नेत्र अपने दृश्य सम्पूर्ण रूपों को देखता हुआ भी अपने दृश्य से कदापि दृष्ट नहीं होता वैसे ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्म सर्व-द्रष्टा होते हुए भी अपने दृश्य, विश्व-प्रपञ्च से कदापि दृष्ट नहीं हो सकता।

सर्वाधिष्ठान सम्पूर्ण कार्य-कारण का एकमात्र द्रष्टा, अभेद्य-तत्त्व नित्य है। अस्तु, वह निर्गुण, निराकार, निर्विकार रूप से भी और सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन-स्वरूप से भी सर्वव्यापी, सर्वान्तरात्मा, सर्वत्र विराजमान है। ध्यानरूप मन्थन से उसका प्रादुर्भाव हो जाता है।

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्य: समुत्थाय निरूप्य दीपान्
वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥

(१०.४६.४४)

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुचर उद्धव और नन्दबाबा के इस प्रकार वार्तालाप करते हुए रात्रि व्यतीत हो गयी। घर-घर में गोपाङ्गनाएँ उठ गयीं और दीप जलाकर घर की देहलियों पर उन्होंने वास्तुदेव का पूजन किया। तदनन्तर घर को परिष्कृत कर दही बिलोने लगीं।

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू।
रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्त्रजः।
चलन्नितम्ब स्तनहारकुण्डल-
त्विषत्कपोलारुण कुङ्कुमाननाः॥

(१०.४६.४५)

गोपाङ्गनाजनों की कलाइयों में कंकण शोभायमान हो रहे थे। दधि-मन्थन करती हुईं वे बहुत शोभायमान हो रही थीं। दधि-मन्थन के कारण उनके अंग-प्रत्यंग आन्दोलित हो रहे थे। उनके गले के हार भी चलायमान हो रहे थे। उनके कानों के कुंडल भी हिल-हिलकर उनके कुंकुम-मण्डित कपोलों की लालिमा को बढ़ा रहे थे। उनके आभूषणों की मणियाँ दीपक की ज्योति से और भी जगमगा रही थीं। इस प्रकार वे अत्यन्त शोभायमान हो दधि-मन्थन कर रही थीं।

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥

(१०.४६.४६)

उस समय वे भगवान् श्रीकृष्ण के मंगलमय चरित्रों का गान कर रही थीं; उनके सुमधुर गान और दधि-मन्थन की ध्वनि के सम्मिश्रण से उद्भूत स्वर स्वर्गलोकपर्यन्त व्याप्त हो रहा था। यह अद्भुत स्वर-लहरी सम्पूर्ण दिशाओं में भर गयी फलतः उनके अमङ्गल नष्ट हो गये।

विस्रम्भक-भावप्रधान गोपाङ्गनाएँ ही नानाविध सुन्दर-वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो गृह-कार्य में प्रवृत्त होती हैं। इनके कारण ही व्रज की शोभा, आभा, प्रभा, कान्ति बनी रहती है।

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्॥

(१०.४६.४७)

भुवन-भास्कर सूर्यनारायण के उदित होने पर उन व्रजाङ्गनाओं ने देखा कि नन्दबाबा के द्वार पर एक रथ खड़ा है। वे अत्यन्त विस्मित हो परस्पर पूछने लगीं

कि यह रथ किसका है। व्रजधाम में उद्धव का आगमन गोधूलि-बेला में हुआ था, अतः उनके आगमन का ज्ञान व्रजाङ्गनाओं को नहीं था।

अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः॥

(१०.४६.४८)

व्रजाङ्गनाएँ विविध प्रकार की आशंकाएँ कर रही हैं। एक कहती है कि कंस का प्रयोजन सिद्ध करने वाला अक्रूर जो राजीवलोचन श्रीकृष्ण को मधुपुरी ले गया, वही पुनः लौट आया होगा।

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम्।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः॥

(१०.४६.४९)

वे परस्पर विचार कर रही थीं कि अक्रूर के पुनः व्रजधाम आने का क्या हेतु हो सकता है? एक कहती है अब तो इनका आगमन शायद इसीलिए हुआ हो कि हम व्रजाङ्गनाओं के मांस को ले जाकर अपने मृत स्वामी कंस का पिण्डदान करे।

प्राचीन काल में मृतकों के लिए किये गये पिण्ड-दान में मांस का प्रयोग होता था। मान्य है कि मांस-पिण्ड से पितरों को विशिष्ट तृप्ति होती है। वे इस प्रकार परस्पर वार्तालाप कर ही रही थीं कि उद्धव नित्य-कर्म से निवृत्त हो वहाँ आ पहुँचे।

२

उद्धव-गोपीजन-सम्मिलन

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्॥

(१०.४७.१)

श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं कि गोपाङ्गनाजनों ने देखा कि श्रीकृष्णानुचर उद्धव की आकृति श्रीकृष्ण के समान ही है; वे भी आजानुबाहु हैं; उनके नेत्र भी नूतन कमल-दलतुल्य हैं; वे भी पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके गले में भी कमल-पुष्पों की माला है और कानों में मणि-जड़ित कुण्डल झलक रहे हैं; उनका मुखारविन्द अत्यन्त प्रफुल्लित है।

'नवकञ्जलोचनम्' से इंगित है 'रज:सत्त्वाभ्यां सृष्टिपालक:' भगवान् अपने नयनगत स्वच्छतारूप सत्त्व से भक्तों के मनोरथों का पालन करते हैं। नूतन कमल-दल में अरुणिमा भी होती है; यह अरुणिमा रजोगुण की प्रतीक है; रजोगुण के द्वारा भगवान् अपने भक्तों के मनोरथों की सृष्टि करते हैं। भगवदनुग्रह से ही 'अप्राप्तस्य प्राप्ति: प्राप्तस्य रक्षणम्'—अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा होती है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान् स्वयं ही कह रहे हैं—'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (९.२२) हरिशरण हो जाने पर प्राणी सर्वबाधा-विनिर्मुक्त होकर सदा-सर्वदा प्रसन्न रहता है। गोस्वामी तुलसीदास कह रहे हैं :

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा।
जिमि हरि शरण न एकौ बाधा।

(श्रीरामचरितमानस)

उद्धव श्रीकृष्ण के समान ही पीताम्बर और अलंकार धारण किये हुए हैं, क्योंकि वे उनको प्रसादरूप में मिले हैं। अनन्य भक्तों का स्वभाव होता है कि भगवत्-प्रसाद ग्रहण से उनको प्रसन्नता होती है।

उद्धव को व्रज आये एक रात्रि बीत चुकी है परन्तु उनकी माला आज भी अम्लान है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण परमात्मा का संस्पर्श प्राप्त कर चुकी है। श्रीकृष्ण ने अपनी धारण की हुई माला ही प्रसादरूप में उद्धव को प्रदान की है।

'प्रलम्बबाहुम्' पद-प्रयोग से भगवान् की दिव्य क्रिया-शक्ति इंगित है; सम्पूर्ण क्रिया का सम्पादन बाहुओं द्वारा ही होता है। 'नवकञ्जलोचनम्' से उनकी ज्ञान-शक्ति इंगित है। नेत्र-रूप-दर्शन में समर्थ ज्ञानेन्द्रिय है। 'मणिमृष्टकुण्डलम्' मणि-जड़ित दोनों कुण्डल ही सांख्ययोग हैं। श्रवण भी ज्ञानेन्द्रिय है। ग्राम्य-कथा-श्रवण से भव-बन्धन दृढ़तर होता जाता है, भगवत्-चरित्रकथा-श्रवण से प्राणी का चित्त निर्मल हो जाता है। पुष्कर-माला ही भगवान् की कीर्ति है। भक्त-मानस ही इस माला के दिव्य सौन्दर्य एवं सौगन्ध्य-संयुत कमलपुष्प हैं। 'मधुव्रत-व्रात-विमृष्ट-मालया' अमलात्मा, परमहंस, योगीन्द्र, मुनीन्द्र इस कमल-पुष्पमाला को घेरे रहने वाले भ्रमर-समुदाय हैं। इस भ्रमर-समुदाय का गुञ्जारव ही मानो भक्त-समुदाय द्वारा किया गया भगवान् के दिव्य गुण-गणों का गान है। 'अपीच्य' कहकर उनके अनन्तकोटि-कन्दर्प-तर्पदलन पटीयान् दिव्य सौन्दर्य की अभिव्यंजना की गयी है। भगवान् निखिलरसामृत स्वरूप हैं। निरावरण रस 'रसाभास' बन जाता है। प्रेम-रस सर्वोत्कृष्ट रस है, अतः उसका सावरण रहना अत्यन्त अनिवार्य है। भगवान् का पीताम्बर ही उनका आवरण है। 'कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्' वह पीताम्बर तपाये हुए सोने की तरह देदीप्यमान है। 'कनक' सोना ही माया है; सामान्य जनों की दृष्टि माया में ही फँसी रह जाती है। अतः वे मायातीत, निखिलरसामृत-मूर्ति, अखिल-सौन्दर्य-सार-सर्वस्व, सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध उद्भूत शृंगार-रससर्वस्व, श्रीकृष्ण परमात्मास्वरूप तक पहुँच ही नहीं पाते। 'लसन्मुखारविन्दम्' उद्धव का मुख-कमल ब्रह्म-ज्ञान से देदीप्यमान हो रहा है। यह वर्णन भगवत्-विभूति की ही अभिव्यंजना है। इसके आधार पर व्रजाङ्गनाओं के भावों का उद्बोधन कर उनमें औत्सुक्य की वृद्धि की; फलतः उद्धव को ही रूपान्तरधारी कृष्ण समझती हुईं वे सब उनके दर्शन के लिए दौड़ पड़ीं।

शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सका-
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्॥

(१०.४७.२)

पवित्रमुस्कान-युक्ता गोपाङ्गनाएँ परस्पर कह रही हैं कि यह पुरुष अत्यन्त सुन्दर है; इसने हमारे गोपाल की भाँति ही वेश-भूषा क्यों धारण कर रखी है? यह

कौन है ? किसका दूत है ? किस प्रयोजन से यहाँ आया है ? पवित्र-कीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण करने वाले उद्धवजी का परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक वे व्रज-सीमन्तनी-जन उनको घेरकर खड़ी हो गयीं।

व्रजाङ्गनाएँ शुचि-स्मिता, पवित्र मुसकानवाली हैं; उनके ईषत् हसन के ध्यानमात्र से ही प्राणी प्रेम-रस-परिपूर्ण हो जाता है। नियम है कि 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' (योगसू० १.३७) चञ्चल मन:स्थिति वाले प्राणी को किसी वीतरागी के चित्त का ध्यान करना चाहिए। अन्य के चित्त का ध्यान उसके स्वरूप के ध्यान से ही सम्भव हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के मुख पर उसके मनोभाव की छाया स्पष्ट हो उठती है। अत: वीतरागी के दर्शन एवं ध्यान से अन्य व्यक्तियों का मन भी स्थिर होने लगता है। इसी तरह प्रेमानुरागियों के दर्शन एवं ध्यान से मन प्रेम-रस परिपूर्ण होने लगता है।

विशिष्ट प्रकार के भक्तों को उक्त श्लोक के 'शुचिस्मिता:' शब्द-प्रयोग का पाठ-भेद 'सुविस्मिता:' ही स्वीकार्य है। ऐसे भक्तों का मानना है कि श्रीकृष्णवियोग से सन्तप्त गोपाङ्गनाजनों के मुख पर मुसकान आ ही कैसे सकती थी, क्योंकि मुसकान तो सुखदशा का उपलक्षण है। श्रीकृष्ण के समान वेष-भूषा से मण्डित श्रीकृष्ण-आकृतिवत् आकृतिमान् उद्धव के दर्शन से वे अत्यन्त विस्मित हो उठीं!

श्रीकृष्ण की भाँति ही उद्धव भी प्रलम्बबाहू हैं; और उन्हीं की भाँति वेष-भूषा भी धारण किए हुए हैं। व्रजाङ्गनाओं के मन को आकर्षित करने के हेतु भी उद्धव का इस स्वरूप में वर्णन हुआ है। 'व्रजस्त्रिय:' पद-प्रयोग का तात्पर्य सम्पूर्ण व्रज-स्त्रियों में न होकर केवल श्रीकृष्ण की अनन्य अनुरागिणी-प्रेयसी-वृन्द में ही है। 'व्रजस्त्रिय: कृष्ण-गृहीत-मानसा:' सर्वाकर्षक सर्वानन्द श्रीकृष्ण ने जिनके मन को आकर्षित कर रखा है ऐसी अनन्य भाव-निष्ठावाली जो व्रज-स्त्रियाँ हैं। इनके अन्तर्गत रासेश्वरी, नित्य-निकुंजेश्वरी, राधारानी तथा ललिता, विशाखा, प्रभृति अन्तरंगा सखीवृन्द आता है।

वेद कहते हैं, 'अप्राणो ह्यमना: शुभ्र अक्षरात्परत: पर:' (मुण्डक० २.१.२)। परात्पर परब्रह्म भगवान् अमना हैं। लिङ्ग-शरीर से सम्बद्ध होने पर ही मन की स्थिति बनती है, अत: परात्पर परब्रह्म स्वभावत: अमना है। योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी अमना होने का प्रयास करते हैं। 'अमनस्त्वं तदा याति' ध्यानाभ्यास से वासना का क्षय होता है। प्रारब्ध-कर्म की विद्यमानतापर्यन्त मनोनाश सम्भव नहीं, तथापि ध्यानाभ्यास से विविध वृत्तियों का क्षय हो जाता है। वृत्ति-शून्यता ही मनोनाश है। जैसे भुवन-भास्कर सूर्यनारायण तथा चन्द्रमा की विशिष्ट स्थिति पर

ही राहु का प्राकट्य सम्भव होता है वैसे ही निवृत्तिपरक मनःस्थिति पर ही अखण्डबोध-स्वरूप अप्राकृत ब्रह्म का प्राकट्य सम्भव हो जाता है। मन की यह दुर्लभ स्थिति ही कृष्णगृहीत-मानस है।

उत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्। '**उत्तमाः श्लोकाः यशांसि यस्य स उत्तमश्लोकः।**' जिनका यश उत्तम है वही उत्तमश्लोक है। 'उद्गत-तमस्क' जिसमें तम का लेशमात्र भी न हो वही उत्तमश्लोक है। अथवा 'उत् उत्कृष्टानां मध्ये अतिशयेन उत्कृष्टः स उत्तमः' अनेक उत्तम जनों के बीच भी जिसका यश अतिशय उत्कृष्ट है, वह उत्तमश्लोक है। 'उत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयः कृष्णः, एवंभूतकृष्णस्य अन्तरङ्गपरिबन्धुः'—उत्तमलोक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण करने वाले उद्धव उनके अनुचर अथवा उनके अन्तरङ्ग सखा हैं।

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृंत
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने॥
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः॥

(१०.४७.३)

जब उन व्रजसीमन्तनी जनों को यह मालूम हुआ कि उद्धव रमापति भगवान् श्रीकृष्ण के अनुचर हैं और उनका सन्देश लेकर आये हैं तब उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक सलज्ज-हास्य, चितवन और मधुर वाणी से उनका अत्यन्त सत्कार किया और एकान्त में आसन देकर उनसे कहने लगीं।

'रमापति' पद-प्रयोग यहाँ राधा-पति के अर्थ में ही प्रयुक्त है। 'रमाक्रीडामहो व्रजः' व्रजधाम रमाक्रीड़, रमाका आश्रय-स्थान हो गया। राधा रानी के रूप में रमा ही व्रज में क्रीड़ा करती हैं।

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भत्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया॥ (*१०.४७.४*)

हम जानती हैं कि आप यदुपति के पार्षद हैं और उनका सन्देश लेकर यहाँ पधारे हैं। आपके स्वामी ने अपने माता-पिता को सुख देने के लिए ही आपको यहाँ भेजा है।

'यदुनाथ' जैसे सम्बोधन से वे व्यंग कर रही हैं; गोपाल कन्हैया व्रजधाम को छोड़कर मथुरा में रह रहे हैं; वहाँ वे राजाधिराज 'यदुपति', 'यदुनाथ' हो गये हैं; यदुनाथ होकर वे हम सबको भूल गये हैं। उनको अब हमारे लिए अवकाश ही कहाँ है? वे अत्यन्त निष्ठुर हो गये हैं। हम लोगों से अब उनका क्या नाता? आपको भी तो उन्होंने अपने माता-पिता को सुख देने हेतु ही भेजा है।

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥

(१०.४७.५)

यदुपति के लिए इस गोकुल गाँव में स्मरणीय ही क्या रह गया है? माता-पिता आदि सगे-सम्बन्धियों का स्नेह-बन्धन तो ऋषि-मुनियों के लिए भी दुस्त्यज है।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

प्राणी जितने भी मनःप्रिय सम्बन्ध बनाता है उतने ही शोकरूपी शंकुओं को हृदय में ठोंक लेता है। वही स्नेहानुबन्ध, स्नेह से उत्पन्न वासनामय ग्रन्थि मुनिजनों के लिए भी दुस्त्यज है। जैसे वटवृक्ष अपनी ही जटाओं से जकड़ा जाता है वैसे ही प्राणी भी विभिन्न स्नेह-बन्धनों से जकड़ जाता है।

निरन्तर मननशील मुनिजनों एवं ब्रह्मचिन्तनरत ऋषियों के लिए भी बन्धुओं का अनुबन्ध, पश्चात्-भागी अंशरूप स्नेह-संस्कार का बाध कर देना अत्यन्त कठिन होता है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि इस संस्कार के कारण ही श्रीकृष्ण ने अपने माता-पिता का प्रिय करने के लिए आपको भेजा है। अन्यथा अब गोकुल गाँव में उनको आकर्षित करने योग्य रह ही क्या गया है?

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्स्विव षट्पदैः॥

(१०.४७.६)

संसार में जो अन्य के साथ स्नेह और मित्रता की जाती है वह सब विडम्बनामात्र है, क्योंकि उनका हेतु स्वार्थ में ही होता है। जैसे पुरुष किसी कामिनी में अथवा भ्रमर पुष्प में स्वार्थ-हेतु ही प्रेम प्रदर्शित करता है। एक सूक्ति है—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

(भामिनी-विलास १.१६)

अर्थात् हे सरोवर! जब तुम पूर्ण थे, तुममें कमल-कमलिनी प्रफुल्लित थे तब कारण्डव, सारस आदि विविध पक्षीगण तुम्हारी शोभा बढ़ाते थे। कमल-पराग

के लोभ में भ्रमर-मण्डली सदा ही गुंजारव करती रहती थी; किन्तु अब जब तुम सूखने लगे हो, वह विहंगों और भ्रमरों की टोली तुम को त्यागकर अन्यत्र चली गयी है, परन्तु ये मीन बेचारी कहाँ जायँ? ये तो तुम्हारे दुःख से ही संतप्त हैं। भ्रमर रसिक हैं पर अनन्य नहीं; मीन अनन्य हैं पर रसिक नहीं। गोपांगनाएँ अनन्य भी हैं और रसिक भी हैं।

श्रीकृष्ण के वियोग से सन्तप्त हो उनके प्रति अपना प्रणय-कोप प्रकट करती हुई गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं 'अन्येष्वर्थकृत मैत्री' 'अन्येषु शरीरसम्बन्ध-भिन्नेषु' अर्थात् शरीर सम्बन्ध से भिन्न तात्पर्य माता-पिता से भिन्न अन्य जनों में अर्थ मैत्री होती है। प्रयोजनोपाधिक मैत्री अर्थोपशान्तिके पश्चात् शान्त हो जाती है, अतः ऐसी मैत्री से प्रेम का अनुकरण-मात्र प्रेम का आडम्बरमात्र होता है। सोपाधिक प्रीति सातिशय एवं अनित्य होती है। साथ ही उसमें उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य भी बना रहता है। जिस उपाधि से जितना अधिक सुख मिलता है उसमें उतना ही अधिक प्रेम प्रतीत होता है, परन्तु प्रयोजन पूर्ण हो जाने पर प्रेम-भाव भी शान्त हो जाता है। माता-पिता के साथ तो रक्त-सम्बन्ध होता है। दुस्त्यज अनुबन्ध के कारण उनका ही प्रिय करने के लिए श्रीकृष्ण ने आपको भेजा है।

निस्स्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्॥

(१०.४७.७)

जैसे धनहीन हो जाने पर अपने यहाँ आने वाले व्यक्ति से गणिका विमुख हो जाती है, रक्षा में असमर्थ राजा से प्रजा विमुख हो जाती है और विद्या प्राप्त कर लेने पर विद्यार्थी गुरु से दूर चला जाता है अथवा दक्षिणा प्राप्त होने पर ऋत्विक् यजमान को छोड़कर चले जाते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण भी हमको त्यागकर चले गये।

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥

(१०.४७.८)

जैसे फलहीन वृक्ष से पक्षी उड़ जाते हैं, भोजन कर चुकने पर अतिथि चला जाता है, वन में आग भड़क जाने पर वहाँ के निवासी पशु-पक्षी भाग खड़े होते हैं और जैसे जार पुरुष अपनी काम-पूर्ति के बाद अपने में अनुरक्ता स्त्री को छोड़कर चल देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी हमको त्याग कर चले गये; अब तो वे यदुनाथ हो गये हैं, उनको हम से क्या प्रयोजन रह गया?

यथार्थतः गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण-परायण हैं; श्रीकृष्ण-चिन्तन में तल्लीन उनके चित्त में विश्व-प्रतीति की स्फूर्ति भी नहीं होती; प्रेम की दशमी दशा अथवा

महाभाव-दशा में ही उनके मुख से अनेक प्रकार के वचन निकलते हैं। ये चित्त जल्प, ईर्ष्या, गर्व आदि विभिन्न-भाव संयुक्त होते हैं। वस्तुतः ये प्रकृत-भाव नहीं अपितु महाभाव-दशा की विभिन्न भाव-लहरियाँ हैं। यह प्रेम की अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्था है।

'रसो वै सः' (तै० उ० २.७) रस-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते-करते व्रजाङ्गना-जनों का मन भी रसामृत-सिन्धुस्वरूप हो गया है, ऐसे रस स्वरूप मन की समस्त भावनाएँ रसामृत-सिन्धु की विभिन्न लहरियाँ ही हैं। इनके श्रवण-मनन से जन्म-जन्मान्तरों के पापों का नाश और प्रभु-चरणों में प्रीति का उद्बोधन होता है। आश्रय और विषय की महत्ता से ही किसी कर्म अथवा भावना का महत्त्व सिद्ध होता है। जैसे चौर्य-कर्म अपने आप में सर्वथा हेय एवं दण्डनीय है, तथापि गोपालकृत माखनचौर्य-कर्म अपने आश्रय की महत्ता से महिमा-मण्डित है। इसी तरह, सम्पूर्ण लौकिक तृष्णा सर्वथा त्याज्य है परन्तु परमात्मा श्रीकृष्ण के दर्शन की, उनके सम्मिलन की तृष्णा जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुंज का ही परिणाम है।

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥

(१०.४७.९)

गोपाङ्गनाजन मन, वाणी और कर्म से श्रीकृष्ण में ही तल्लीन थीं अतः कृष्ण-दूत उद्धव से वार्तालाप करते हुए उनको लोक-ज्ञान विस्मृत हो गया और किसके सामने क्या और कितना कथन उचित है, इसका विवेक नहीं रह गया।

मनसा-वाचा-कर्मणा आराध्य-निष्ठ होने पर ही लौकिक भावना का सर्वथा परित्याग सम्भव है।

यदा यमनुह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

(४.२९.४६)

भगवदनुग्रह, भगवान् की भास्वती भगवती मंगलमयी अनुकम्पा से ही लोक-वेद-परिनिष्ठितमति का परित्याग कर प्राणी भगवदुन्मुख हो जाता है।

गोपाङ्गनाएँ कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा हैं। 'बृहदारण्यक' में अष्ट-ग्रह और अष्ट-अतिग्रह का वर्णन है। (३.२.१) जैसे ग्रह प्राणी को अपने वश में कर उनको नचाते रहते हैं वैसे ही श्रोत, त्वक्, चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी प्राणी को अपने वश में कर नचाती रहती हैं।

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीनैर्हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

अर्थात्, कुरंग, मातंग, पतंग, भृंग और मीन को एक-एक-गृहीतात्मा होने के कारण प्राण-त्याग करना पड़ा; तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के ग्राहक श्रोत्र, त्वक्, रसना, चक्षु और घ्राण तथा मन, बुद्धि और अहंकाररूप अष्ट-ग्रहों से गृहीत प्राणी की दशा तो अकथनीय है। शब्द, रूप, रसादि ही अतिग्रह हैं, इनके पराधीन होकर प्राणी जनन-मरण-विच्छेद-लक्षण संसृति में भटकता रहता है। कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा प्राणी 'न वेद जगदीदृशम्', जगत् को अन्य प्राणियों से भिन्न ही देखता है। उसके लिए सम्पूर्ण विश्व ही अखण्ड अनन्त ब्रह्म-स्वरूप है। 'राधावल्लभ' सम्प्रदाय में मान्य है कि यथार्थतः आनन्द-सिन्धु में ही भव-सिन्धु की भ्रान्ति हो जाती है। जैसे रज्जु में सर्प भ्रान्ति का बाध हो जाने पर उसका यथार्थ स्वरूप, रज्जु-रूप दृष्टिगोचर हो जाता है वैसे ही कृष्ण-चेता प्राणी को भव-सिन्धु का यथार्थ स्वरूप सच्चिदानन्दघन आनन्दसमुद्र अनुभूत होने लगता है। अस्तु, कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा व्रजाङ्गना-जनों में भी लोक-व्यवहार का ज्ञान विस्मृत हो गया।

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोर बाल्ययोः॥

(१०.४७.१०)

गोपाङ्गनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की बाल, कैशोर और पौगण्डावस्था की विभिन्न लीलाओं को याद कर-कर लोक-लज्जा भूलकर उच्च स्वर में रोने लगीं।

बान्धवो यदि जहाति हीयतां
साधवो यदि हसन्ति हस्यताम्।
माधवो यदि निहन्ति हन्यतां
माधवः स्वयमुरीकृतो मया॥

वे परस्पर कह रही हैं—हे सखी! यदि बन्धु-बान्धव हमारा त्याग करते हैं तो भले ही करें; यदि साधुजन हम पर हँसते हैं तो भले ही हँस लें; यदि स्वयं माधव भी हमारा हनन करना चाहते हों तो भले ही वह हमारा हनन कर लें, परन्तु मैं तो अब प्रियतम प्यारे माधव को स्वीकार कर चुकी; अब उनसे मुझको कोई छुड़ा नहीं सकता।

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रिय प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥

(१०.४७.११)

राधारानी श्रीकृष्ण-सम्मिलन-लीलाओं की स्मृति में ही तल्लीन थीं; ऐसे ही समय वहाँ एक भ्रमर कहीं से आकर गुनगुनाने लगता है; राधा-रानी को प्रतीत होता है कि मानो उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ने ही उनको रूठा हुआ जानकर उनको मनाने के लिए भ्रमररूपी दूत को भेजा है।

इस श्लोक में राधारानी का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं हुआ है, अतः इसका समुचित अर्थ लगाने के लिए 'काचित् गोपाङ्गना' पद जोड़ लेना अनिवार्य है। 'सा काचित्' के प्रेमात्मके सुखे आ समन्तात् चित् ज्ञानं यस्याः सा काचित् गोपी' अर्थात् प्रेमात्मक सुखसम्बन्धी सम्यक् ज्ञान है जिसको, वही 'काचित् गोपी'। नित्यरासेश्वरी राधारानी के लिए निरन्तर अखण्ड, अनन्त चित्-प्रेम ही ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य है। अथवा 'कं प्रेमात्मकं सुखं भक्तजनेषु क्षणे-क्षणे आचिनोति अभिवर्द्धयति इति काचित्' जो भक्तजनों में क्षण-क्षण, प्रतिक्षण प्रेमात्कर्ष सुख को उद्भूत करती हो वह 'काचित्'। राधारानी प्रेम की देवता है; भगवत्-चरणारविन्दों में प्रेम की अनुभूति राधारानी के कृपा-प्रसाद से ही सम्भव है।

गौरतेजः परित्यज्य श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद् वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥

जो गौर-तेज राधारानी का त्यागकर केवल श्याम-तेज का ध्यान एवं जप करता है वह पातकी है।

'काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा' राधारानी ने देखा कि अकस्मात् एक भ्रमर वहाँ मँडराने लगा है, मानो स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं ही राधारानी के चित्र-जल्प को सुनने के लिए उत्सुक हो, इस स्वरूप में आविर्भूत हुए हैं। अथवा इस हेतु से कि भ्रमर को देखकर राधारानी में जो अद्भुत भाव होंगे, उनकी अनुभूति उद्धव को हो जाय, भ्रमर को वहाँ भेजा। प्रेम-रस-परिप्लुत ज्ञान-विज्ञान ही यथार्थ ज्ञान-विज्ञान है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

राम प्रेम बिनु सोह न ज्ञाना।
कर्णधार बिनु जिमि जलजाना॥
सो सब धरम करम जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
योग कुयोग ज्ञान-अज्ञानू।
जहाँ न राम प्रेम परधानू॥

(श्रीरामचरितमानस)

राधारानी ने भ्रमर को देखा; इस भ्रमर का स्वरूप भी श्यामसुन्दर की भाँति श्यामवर्ण है, उसके पंख पीले हैं, मानो श्रीकृष्ण का पीताम्बर ही है। उसके ओष्ठ

भी श्रीकृष्ण के ओष्ठ की तरह अरुण हैं, उसका गुञ्जारव ही मानो श्रीकृष्ण हा वंशी-नाद है।

'ध्यायन्ती प्रेममङ्गलम्'—राधारानी श्रीकृष्ण-ध्यान में निमग्न हैं, उत्कण्ठा-प्रधान प्रेम की एक वैचित्त्य अवस्था होती है, जिसमें भ्रमाभा ही प्रधान होती है। उस भावावस्था का वर्णन है—

अङ्के स्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति रुचिरं विदधात्यकस्मात्।

परम प्रेमास्पद प्रियतम, प्राणनाथ के अङ्क में विराजमान रहने पर भी अन्तःकरण, अन्तरात्मा, मन, प्राण से सर्वांगीण संश्लेष प्राप्त होने पर भी राधारानी को उनके विप्रयोग की ही अनुभूति हो रही है और वे 'हा माधव', 'हा माधव' कहती हुई करुण विलाप करती हैं। यदा-कदा श्रीकृष्ण के उपस्थित न रहने पर भी वे अपनी तन्मयता के कारण उनकी उपस्थिति का अनुभव करती हैं। अस्तु, अकस्मात् उपस्थित हो जाने वाले भ्रमर को कृष्ण-दूत समझ कर वे कह रही हैं—

३

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥

(१०.४७.१२)

अर्थात् हे मधुप! तू कपटी का बन्धु है, अतः तू भी बड़ा कपटी है। तू मेरे चरणों को मत छूना: झूठा प्रणाम कर अनुनय-विनय न करना। मैं देख रही हूँ कि उस माला का, जो श्रीकृष्ण के गले में पड़ी हुई है और मेरी सपत्नियों के वक्षःस्थल से मसली गयी है, कुंकुम तेरी मूँछों में लगा है। तू स्वयं भी तो किसी के प्रेम में स्थिर नहीं होता, एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर मँडराता रहता है। जैसे तेरे स्वामी हैं वैसा ही तू भी है। जा, तू जा और मधुपति श्रीकृष्ण की मधुरा-निवासिनी मानिनी नायिकाओं को ही मनाया कर; उनका ही कृपा-प्रसादरूप कुंकुम, जो यदुवंशियों की सभा में उपहासास्पद हो रहा है, अपने ही पास रख।

पद्य के प्रारम्भ के पूर्व 'गोप्युवाच' जैसा प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग एकवचनान्त है, अतः इसका तात्पर्य 'काचित् गोपिका' अर्थात् राधारानी में ही है। 'गोपी' शब्द से ग्राम-वासिनी स्त्री का संकेत है। नगरनिवासी स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा ग्रामवासी स्त्री-पुरुष अधिक स्वच्छ हृदयवाले होते हैं। 'गोपी' शब्द गोपन अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'गोपी' अर्थात् श्रीकृष्ण के प्रति अपने प्रेम को गुप्त रखने वाली। 'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्। एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम..........' गोपाङ्गनाजनों का पुञ्जीभूत प्रेम ही अश्रुतियों का गुप्तवित्त, मुनिजन सर्वस्व, ध्येय-ज्ञेय-परमाराध्य यदुपति के स्वरूप में आविर्भूत हो गया है।

वेदान्त-सिद्धान्त है—'अप्यसत् प्राप्यते ध्यानाद् नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः' निरन्तर चिन्तन से असत् वस्तु भी प्राप्त हो जाती है तब नित्य-प्राप्त ब्रह्म की प्राप्ति

में कौन-सा संदेह है? उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि जैसे विधुर-परिभावित कामिनी-साक्षात्कार अप्रमाणित है, भावनाजन्य है, अतः वस्तुतः नहीं है वैसे ही प्रमाणरहित भावनाजन्य अन्य सम्पूर्ण ज्ञान भी अयथार्थ है। भामतीकार ने इस कथन का खण्डन किया है। वेदान्त-श्रवण द्वारा निर्विकार, निराकार, अखण्ड, अद्वैत ब्रह्म का परोक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त कर दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर सत्कारपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करना ही प्रसंख्यान है। ऐसे प्रसंख्यान से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। सिद्धान्त है कि जैसे श्रोत्रेन्द्रिय केवल शब्दगत सामान्य धर्म को ग्रहण करने में समर्थ है तथापि गान्धर्वशास्त्र के अभ्यासार्जित, संस्कार-संस्कृत मन की सहायता से शब्दगत षड्जत्वादि गुणों का साक्षात्कार भी करने लगता है वैसे ही वेदान्त-शास्त्रों के अध्ययन-मनन से संस्कृत मन आत्मा की ब्रह्मात्मकता, आत्मा में सन्निविष्ट ब्रह्म, आत्मा के ब्रह्मरूप का दर्शन करने लगता है। जैसे रूप-साक्षात्कार का करण चक्षु, शब्द-साक्षात्कार का करण श्रोत, स्पर्शादि साक्षात्कार के कारण तत्-तत् इन्द्रियाँ हैं वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार का करण मन है। वेदान्ती उक्त सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वेद-सिद्धान्तानुसार 'अप्यसत् प्राप्यते ध्यानात्' ध्यान से असत् वस्तु का भी साक्षात्कार हो जाता है। साक्षात्कार होने पर उसकी स्फूर्ति, प्रतीति एवं तत्-सम्बन्धी अनेक प्रकार के भान होने लगते हैं। अस्तु, राधारानी को भी ध्यान द्वारा श्रीकृष्ण का साक्षात्कार और उनके द्वारा मथुरा में किये जा रहे विभिन्न क्रिया-कलापों की स्फूर्ति हुई।

राधारानी कल्पना करती हैं कि मानो नगर-निवासिनी पटरानियों से ऊबकर उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ने उनका मान मनाने के लिए ही 'मधुप'—भ्रमर को भेजा है। अतः वे कह रही हैं, हे मधुप! तू मेरा चरण-स्पर्श न कर; क्योंकि तू 'मधु, मद्यं पिबति' मदपान करने वाला है। अरविन्द-मकरन्द का पान कर भ्रमर मत्त हो जाता है; मकरन्द आसव का साधन है। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द पर विराजमान सचिक्कण कोमल अलकावली ही अलिकुल-माला है।

'स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः' अर्थात् सपत्नियों से संस्पृष्ट। श्रुति-सिद्धान्त है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋग्वेद १.१६४.२०) इस शरीररूपी वृक्ष पर परमात्मा और जीवरूप दो पक्षी रहते हैं; उनमें सजातीय सम्बन्ध हैं; वे दोनों समान जाति-वर्ण के हैं; दोनों में परस्पर सख्य भी है। परमात्मा पालक सखा और जीवात्मा बालक सखा!

'अनीशया मुह्यमानः शोचति' जीवात्मा-परमात्मा के बीच इस गूढ़ सम्बन्ध के रहते हुए भी जीवात्मा माया द्वारा मोहित होकर अपने अखण्ड, अनन्त स्वरूप

को भूलकर अनात्मा के साथ तादाम्यभिमानवान् होकर स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानता हुआ भवाटवी में भटकता रहता है। 'यदा महिमानं पश्यति' जब वह आत्मा की महिमा को देखने लगता है तब पवित्र होकर निर्दोष भाव से परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(गीता ७.२८)

अर्थात् जिनके पापकर्मों का अन्त हो गया है वे ही द्वन्द्व-मोह-विनिर्मुक्त होकर मुझको दृढ़ भाव से भजते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

(गीता ७.१५)

दुष्कृति नराधम मेरा भजन नहीं कर पाते। भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं—

पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

भगवान् व्यास कहते हैं—

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

(स्क० पु०, वैष्णव मार्गशीर्ष माहात्म्य, ५३ श्लोक)

अर्थात् भगवान् के एक नामोच्चारण में पातकी के सम्पूर्ण पाप को नष्ट कर देने की शक्ति है। भगवन्नाम में पाप-निर्हरण की जैसी शक्ति है उतना पाप कोई भी पातकी नहीं कर सकता।

श्रुति-सिद्धान्त है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः॥

(श्वेताश्व० उप० ४.५)

सम्पूर्ण विश्वप्रपंच त्रिगुणात्मिका माया का ही कार्य है। 'कृत्यं कुर्वन्' जीवरूप अज उस अजा (माया) का अनुसरण करता हुआ उसमें लिप्त रहता है। शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से संस्कृत होकर कोई अधिकारी जीव उस अजा प्रकृति से भोगापवर्ग का सम्पादन कर उससे विरक्त हो परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। माया का सम्बन्ध बने रहने तक अन्तःकरण एवं आत्मा का अन्योन्य-भाव बना रहता है; अन्योन्य-भाव के रहते भगवत्-पदप्राप्ति असम्भव

है। मायारूप सपत्नी का त्याग श्रीकृष्ण-सम्मिलन-हेतु अनिवार्य है अत: महाभाव-रूपा राधारानी कह रही हैं, 'अङ्घ्रि मा स्पृश' हे जीव! तू मायारूपी सपत्नी का त्याग कर श्रीकृष्ण-परायण हो जा।

माया अत्यन्त दुस्तर है—

शिव ब्रह्मादिक देखि डराहीं।
नर पामर केहि लेखे मांहीं॥

मानिनीनां प्रसादं वहतु, मानिनीनां,
श्रुतीनाम् अस्माकं प्रसादम् अनुग्रहं धारयतु।

इस दुस्तर माया से छुटकारा पाने के लिए मानिनी (परम प्रमाणभूत) श्रुतियों का अनुग्रह प्राप्त करो। श्रुतियों के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन से ही माया से छुटकारा मिल सकता है। 'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' (तै० उप० १.९) सत्य का आश्रय ग्रहणकर वेदादि सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन एवं प्रवचन-विचार द्वारा ही माया का बाध सम्भव है। इस अयन को प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं। 'मानिनीनाम्' मानं प्रमाणं तात्त्विकं अस्ति वेदकत्वेन आसाम् इति मानिन्य:, तासां मनिनीनाम्, किंवा वेदत्वेन वेद्यत्वेन प्रमाणं अस्ति आसाम्' वे ही मानिनी हैं। अर्थात् इन्द्र, वरुणादि देवताओं का षोडशोपचार-पूजन एवं कर्म-काण्ड का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का भी परम तात्पर्य तात्त्विक प्रमाण ब्रह्म में ही है। अज्ञात ज्ञापकत्व ही प्रमाणतत्व है। वृत्ति में ज्ञापकत्व नहीं होता, किन्तु वृत्ति-व्यक्त चैतन्य में होता है। चक्षु, कर्णादि इन्द्रियों में भी ज्ञापकत्व नहीं हो सकता; अखण्ड, अनन्त परब्रह्म ही तात्त्विक प्रमाण है। जिन श्रुतियों का प्रमाण परब्रह्म में है, उन मानिनीयों का शुद्ध हृदय जिनमें संलग्न है, उनका प्रसाद=अनुग्रह प्राप्त करो। तात्पर्य कि श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन द्वारा वेदों के महातात्पर्य को धारण कर माया-संस्पर्श से छुटकारा पाकर अन्त:करण एवं आत्मा का अन्योन्याध्यास समाप्त किया जा सकता है। अन्योन्याध्यास के समाप्त हो जाने पर प्राणी सर्व-प्रपञ्च-विनिर्मुक्त हो मोक्ष-भाव को प्राप्त हो सकता है।

'मधुप कितवबन्धो!' चित्त ही कितव (वंचक) है। चित्त की वञ्चना से ही जीव अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध यथार्थ स्वरूप से वंचित होकर अपने को कर्ता-भोक्ता मानता हुआ अनेकानर्थ-परिलुप्त होकर भवाटवी में भटकता रहता है।

'कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभि:।' जीव ही कुचविलुलितमाला, कुंकुम एवं श्मश्रु से उपलक्षित है। श्रुति है—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुख:।' (श्वे० ४.३)। तात्पर्य कि जीव ही कुमार, कुमारी एवं वृद्ध बन जाता है। 'कुचविलुलितमाला' पद का प्रयोग स्त्रीत्व का और 'श्मश्रु' पद-प्रयोग पुरुषत्व

का सूचक है। जीव स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व दोनों से ही विलक्षण है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः' यह आत्मा न स्त्री है, न पुमान् है, न नपुंसक है।

यत् यत् शरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते। *(श्वे० ५.१०)*

आत्मा जिस देह को प्राप्त करता है वैसा ही प्रतीत होने लगता है। 'यदु यत् यस्मात् कारणात् उ **निश्चयेन** त्वं सदासि यदु सदसि सत्-पदवाची आत्मा है; उसमें पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व आदि अध्यस्त हैं। इनसे उपलक्षित अनन्त चैतन्य ही आत्मा है, सद्-रूप है। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है—'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य० ६.२.१) हे सौम्य! सम्पूर्ण सृष्टि-प्रपञ्च से पूर्व सद्-रूप तू ही विद्यमान था। उस सद्रूपता का बोधन करती हुई श्रुति कहती है कि माया का संसर्ग भी परम्परित है, अतः देहाध्यास का छूटना अत्यन्त दुर्गम है। 'तद्यपि' वेदान्त के श्रवण-मनन से, उपक्रम-उपसंहारादि छह लिंगों से, वेदान्त-तात्पर्य परात्पर परब्रह्म में निर्धारण कर उसी तत्व का अवधारण करने से माया-संसर्ग समाप्त हो जाता है। माया-संसर्ग के समाप्त होने पर परब्रह्म परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। 'कार्यक्षमं पश्यति चापरोक्षम् (वराहोप० २.६९) अपरोक्षता होने से जगत् की कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है। प्रारब्धक्षय के अनन्तर प्रतिभास का भी क्षय हो जाता है; एतावता माया का समूल बाध हो जाता है। 'तदपि विडम्ब्यम्' परात्पर परब्रह्म के 'स्वात्मकम्' परब्रह्म में तात्पर्य का अवधारण करना भी एक प्रकार की विडम्बना ही है। परमात्मा का संसारी बनकर जीव बन जाना विडम्बनामात्र है। वस्तुतः परमात्मा जीव बनता नहीं, यह प्रतीति विडम्बना (माया का खेल) है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(माण्डूक्यकारिका २.३२)

अर्थात् न तो कभी संसार का निरोध हुआ, न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी इसका बाध हुआ; न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु। वस्तुतः अजर-अमर स्वप्रकाश परब्रह्म ही सर्वत्र भरपूर है, तद्भिन्न कहीं कुछ नहीं है। सारांश, ब्रह्म का स्वात्मरूप में अवधारण विडम्बना ही है अर्थात् माया का ही कार्य है। इसका मूलोच्छेद भी माया का साक्षात्कार कारित वृत्ति द्वारा ही होता है। अजर, अमर, अखण्ड स्वप्रकाश परात्पर ब्रह्म का जीव साक्षात् स्वरूप है। इस तथ्य को निश्चित करना ही मुख्य लक्ष्य है।

वल्लभाचार्य के मतानुसार उक्त श्लोक के और भी अर्थ दिये जा सकते हैं। तदनुसार मान्य है कि राधारानी के चित्र-जल्प के रसास्वादन हेतु स्वयं

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही मधुप-स्वरूप में पधारते हैं। प्रेमोन्माद-निमग्न प्रणय-कोपयुक्त असूया, मद, ईर्ष्या, घृणा और अकौशलपूर्ण उद्‌गार ही चित्रजल्प है।

एक अन्य मान्यता यह भी है कि श्रीकृष्ण ने उद्धव की कल्याण-कामना से ही 'मधुप' को वहाँ भेजा। यदा-कदा अन्य को निमित्त बनाकर अन्य के प्रति किया गया उपदेश ही प्रभावोत्पादक होता है। गोपाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण के दूत उद्धव के प्रति मधुकर के ब्याज से ही अपने उत्कृष्ट प्रेमोन्माद को व्यक्त किया है। ये सम्पूर्ण उक्तियाँ उद्धव पर भी घटित होती हैं। वे भी मधुपुर-निवासी हैं; यदुपति श्रीकृष्ण के अनन्यभक्त एवं प्रियसखा हैं। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसादरूप में प्राप्त उनका ही पीताम्बर एवं वनमाला धारण कर रखा है। उस वनमाला में लगे कुंकुम के कारण ही उनके श्मश्रु लाल हो रहे हैं।

अक्षरात्मक संवत्सर-काल ही 'मधुप' है। गोपाङ्गनाएँ श्रुतिरूपा हैं। संवत्सर-काल ही, परात्पर परब्रह्म एवं श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाओं का सम्बन्ध जोड़नेवाला, दौत्य-कर्म करने वाला 'मधुप' है। वर्ष का अभिमानी देवता ही संवत्सरात्मा 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। संवत्सररूपी काल-व्यवहार का मूल आधार सूर्यनारायण ही हैं, अतः वे संवत्सरात्मा हैं। 'मधुप' का एक अर्थ वसन्त भी है। वसन्त-ऋतु संवत्सर का अन्तिम अंश है; वसन्त के बाद ही नये वर्ष का प्रारम्भ होता है। स्वभावतः ही अंग का पालन अंगी के द्वारा ही होता है। 'मधुप' कितव-बन्धु है, 'कितव' ही ग्रीष्म ऋतु है। ग्रीष्म वञ्चना कर सम्पूर्ण हरियाली सुखा देता है। 'श्रीमद्भागवत' में ही वर्णन है कि भगवान् श्रीकृष्ण के वृन्दावन-निवासकाल में ग्रीष्म-ऋतु के आने पर निदाघ-जन्य कोई प्रभाव वहाँ नहीं पड़ सका और वृन्दावन की शोभा पूर्ववत् बनी रही। सूर्य की तीक्ष्ण किरणों द्वारा वहाँ की भूमि की आर्द्रता का शोषण न हो सका। यौवन-लक्षित द्यु-लक्षण वर्षाऋतुरूपी नायिका के उरोज-स्थानीय बादल में चमकती बिजली ही कुंकुम है, बादलों से बरसती जलधारा ही श्मश्रु हैं। श्रीकृष्ण-वियोग में सब विपरीत हो गये। शीत, शरद, वसन्त भी सन्ताप का कारण बन गये।

प्रसिद्ध पण्डित धनपतिसूरि-लिखित 'भाव-विभाविका' में उक्त-श्लोक का एक अन्य अर्थ किया गया है। तदनुसार 'काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा' प्रयोग में प्रयुक्त 'काचित्' शब्द का अर्थ 'सा एका तत्त्वमस्यादि-एकात्मरूपा मुख्या श्रुतिः', वेद की मुख्य श्रुति है 'तत्त्वमसि' तू वही है। तात्पर्य यह है कि (तू) जीवात्मा परमात्मा का ही स्वरूप है। 'मधुकरं दृष्ट्वा', 'मधु करोतीति' मधुकरः' शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि मनोरम प्रेमास्पद विषय ही मधु है। अपने शुभाशुभ कर्मरूप मधु की रचना करने वाला जीवात्मा ही मधुकर है। 'मधुलवैः समय

दुरापैः' जीवात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों के सुख-बिन्दुओं से अपने हृत्तापों का उपशमन करने का असफल प्रयास करता रहता है। 'ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्' अस्मद् जीवस्य कृष्णसंगमः कथं स्यात्, जीव के निःश्रेयस कल्याण की कामना से भगवती श्रुति चाहती है कि किसी तरह जीव को कृष्ण-संगम प्राप्त हो जाय। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'। 'क' अनन्त, अखण्ड, सत्ता का द्योतक है; अनन्त, अखण्ड सत्ता, अनन्त अखण्ड आनन्द, स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म ही कृष्ण है। 'प्रिय-प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् (११); प्रियेण परमात्मना प्रस्थापितं प्रेषितं' परमात्मा द्वारा प्रेषित जीव ही दूत है। श्रुति है—'हन्ताहमिमाँस्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दोग्य० ६.३.२)। परमात्मा ही जीव में तेज, अप और अनन्त देवता रूप में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण नाम-रूप विश्व का व्याकरण करता है। 'कल्पयित्वा बोधयित्वा इदम् अब्रवीत्' यह जीव परमात्मा का भेजा हुआ दूत है यह जानकर श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ उससे वार्तालाप करती हैं। श्रुतियाँ ही भगवान् की नायिका हैं, इनमें कोई अन्यपूर्विका है तो कोई अनन्यपूर्विका है, कोई भिन्न-भावा है तो कोई तद्-भावा है। जिन श्रुतियों का तात्पर्य परब्रह्म में होते हुए भी अन्य-सम्बन्ध प्रथम विज्ञात होता है वही अन्य-पूर्विका नायिका हैं। अग्नि, वरुण, इन्द्र, कुबेर आदि देवताओं का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का उपसंहारादि षड्विधलिङ्ग द्वारा विवेचन करते हुए यह निर्णय हो जाता है कि उनका भी मूल तात्पर्य परात्पर परब्रह्म में ही है। साक्षात् परब्रह्म से सम्बन्धित 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उप० २.१.१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदा० ३.९.२८) आदि श्रुतियाँ ही अनन्य-पूर्विका नायिका हैं। इन श्रुतियों के अध्ययन-मनन से जीवात्मा अपने परमात्मा के साथ अभेद स्वरूप हो जान पाता है।

'मधुप कितवबन्धो' श्रुतिरूप गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं कि हे मधुप! हे जीव! तू शब्द, स्पर्श, रस, गन्धादि मनोरम विषयों का रस-परायण होकर कृष्ण-रस से विमुख हो गया है। 'त्वं मा स्पृशः' अतः विषय-रस आसक्त तू मेरा स्पर्श न कर। 'मोक्षमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज' यदि तू मोक्ष चाहता है तो विषय-रस का विषवत् त्याग कर दे; कदापि उनका सान्निध्य न कर। 'कितव-बन्धुः' चित्त ही 'कितव' शठ है। चित्त की अपनी सत्ता अथवा स्फूर्ति नहीं होती। योगवासिष्ठ का उल्लेख है—

स आत्मा सर्वगो राम प्रत्योदितवपुर्महान्।
स मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥

अर्थात् सर्वमानी, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दघन सर्वात्मा ही माननी शक्ति

को धारण कर मन बन जाता है। अस्तु, चित्त-जीवात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् और स्फूर्ति से स्फूर्तिमान् होता है तथापि उसको ही विभिन्न विषयों का प्रलोभन देकर संसार-दावानलज्ज्वाला-जटिल भवजालात्मक नानाविध प्रपञ्चों में निमग्न कर दैहिक, दैविक एवं आधिभौतिक त्रितापों से संतप्त करता रहता है। अत: यह चित्त ही शठ है, दुष्ट है। इसका संग छोड़ने पर ही जीवात्मा विश्राम प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और अन्त:करण का अन्योन्याध्यास सम्बन्ध ही सम्पूर्ण बन्धनों का मूल है; इस अन्योन्याध्यास के टूटने पर ही प्राणी विमुक्त हो सकता है।

जीवात्मा परा प्रकृति है; अष्टधा प्रकृति अपरा है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(गीता ७.४)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा अहं तत्त्व, महत् तत्त्व, अव्यक्त तत्त्व ये ही अष्टधा अपरा प्रकृति हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो...................॥

(गीता ७.५)

परा और अपरा प्रकृति दोनों के द्वारा भगवान् जगत् की सृष्टि और लीला करते हैं। परा प्रकृतिरूप जीव का गोपाङ्गनाभाव को प्राप्त करना ही श्रेष्ठ लक्ष्य है। जो जीव जितना ही अधिक गोपी-भाव को प्राप्त करता है उतना ही अधिक मुक्ति पद की ओर अग्रसर होता है। गोपाङ्गनाओं की तरह कृष्ण-भावात्मा हो जाना, तदधीन एवं तल्लीन हो जाना ही गोपीभाव है। स्वभावत: ही जीव तदधीन है; परन्तु अहंकार-वशात् अपने को सर्वतंत्र-स्वतंत्र ही मानता है।

गोपाङ्गना जनों की संख्या अपार है। अपरा प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्तियाँ श्रुतियों की महाशक्तियाँ तथा परा प्रकृति की अनन्तानन्त बुद्धि-वृत्तियाँ ही गोपाङ्गना-तत्त्व हैं। महारास के वर्णन में उल्लेख है—'अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो, माधवं माधवञ्चान्तरेणाङ्गना' (कृष्णकर्णामृत २.३५) दो-दो गोपाङ्गनाओं के बीच माधव थे और दो-दो माधव के बीच गोपाङ्गना थीं। रास-मण्डल में एक माधव और एक गोपी का क्रम बना हुआ था। तात्पर्य है कि प्रत्येक गोपी के साथ गोविन्द विद्यमान हैं। प्रत्येक गोपी के साथ गोविन्द का असाधारण सम्बन्ध है। 'गवां गोपानां गोपीनां च इन्द्र इति गोविन्द:' गोरूपा इन्द्रियों का स्वामी ही गोपिका-वल्लभ, गोविन्द है। प्रत्येक वृत्ति के साथ चैतन्य का सम्बन्ध अटूट है।

वृत्ति द्वारा किसी भी विषय का प्रकाशन सम्भव नहीं। विषय-विशेष-भावाकारकारित वृत्ति पर प्रतिफलित चैतन्य ही तत्-तत् विषय का प्रकाशक है। अस्तु, जहाँ-जहाँ वृत्ति है वहीं-वहीं वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्य भी विद्यमान है। किसी भी वृत्ति के प्रवाह के चलते हुए सहसा ही अन्य वृत्ति उद्भूत नहीं होती। एक वृत्ति का अन्त होने पर ही दूसरी वृत्ति उद्बुद्ध होगी। एक वृत्ति के अन्त और दूसरी वृत्ति के उद्बुद्ध होने के बीच का काल ही सन्धि-काल है। इस सन्धि-काल में ही शुद्ध परब्रह्म प्रकट होता है। उदाहरण: किसी दीवार पर काँच के अनेक टुकड़े लगे हैं; वह दीवार सूर्यनारायण के प्रखर प्रकाश के सम्मुख है। ऐसी स्थिति में सौरालोक काँच के टुकड़ों पर भी पड़ेगा और उनके बीच के संधि-स्थल पर भी पड़ेगा। काँच पर पड़ने वाले प्रकाश में विशेष चमक होगी; साथ ही, वह तत्-तत् काँच के रंग का भी होगा; सन्धि-स्थल की दीवार पर पड़ने वाला प्रकाश सामान्य होगा। इसी तरह वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्य ही विशिष्ट चैतन्य है और दो वृत्तियों के संधि-काल पर प्रकट चैतन्य सामान्य चैतन्य है। सामान्य चैतन्य शुद्ध ब्रह्म है; वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्य सोपाधिक ब्रह्म है; सामान्य चैतन्य शुद्ध ब्रह्म ही गोविन्द है। जैसे दो वृत्तियों के बीच सन्धि अनिवार्य है वैसे ही दो सन्धियों के बीच किसी-न-किसी वृत्ति का होना भी अवश्यम्भावी है। यही 'महारास' लीला है; प्रत्येक दो गोपाङ्गनाओं के मध्य माधव और प्रत्येक दो माधवस्वरूप के अनन्तर गोपाङ्गना ही रास-लीला-मण्डल है। सामान्य वृत्तियाँ ही गोपीजन हैं; प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मकाराकारिता वृत्ति ही राधारानी है। माया-प्रपञ्चात्मक वृत्तियों का सर्वतः विधूनन कर अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्दघन, परमात्मा का स्फुटीकरण करने वाली वृत्ति ही 'मुख्या' अथवा राधारानी है। विविध प्रकार की सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त मायिक प्रज्ञा हैं; राधा-रानी ब्रह्माकाराकारित प्रज्ञा है। व्यष्टि जीवों हिरण्यगर्भादि की अधिष्ठात्री अव्यक्तादि अधिष्ठात्री महाशक्ति ही राधारानी है। व्यष्टि जीवाभिमानिनी तत्-तत् शक्तियाँ गोपाङ्गनाजन हैं। इसी प्रकार इनमें अवान्तर सभी संगतियाँ प्रतिष्ठापित हो जाती हैं।

'प्रिय-प्रस्थापितं दूतं परिकल्पयित्वा' 'प्रिय' अर्थात् परम प्रेमास्पद; निरतिशय, निरुपाधिक परम-प्रेम का आस्पद, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु द्वारा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय पञ्चकोषों में प्रवेशित दूत जीवात्मा चित्त का बन्धु होकर उसका अनुसरण करता हुआ कर्त्ता-भोक्ता बनकर अनेकानर्थ-परिप्लुत भवाटवी में भटक रहा है।

चाह चोरी चाह चमारी चाह नीच की नीच।
तू तो पूरण ब्रह्म था यदि चाह न होती बीच॥

यह दुर्भगा चाह चित्त का ही स्वरूप है। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृति ह्री धीभीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृहद० १.५.३) संकल्प, श्रद्धा, ह्री, धी सब मन ही है। चित्तात्मा के तादात्म्याध्यास, अन्तःकरण के तादात्म्याध्याय से शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व का आरोप कर संसारी बन जाता है। अस्तु, इस शठ चित्त का त्याग समुचित है।

'सपन्त्या अङ्घ्रिं मा स्पृशः, तत्त्वातत्त्वाभ्यां निर्वक्तुमनहा अविचारितरमणीया भावरूपा अधिष्ठान-ज्ञान-विनशनशीला माया' ही सपत्नी है। माया जीव को श्रुति से विमुख कर अपने में ही फँसाये रखाना चाहती है; अतः उसमें सपत्नी की कल्पना की गयी है। जैसे दो स्त्रियों का पति उनसे विजित होकर अपने स्वामित्व को भूलकर कामिनी-किंकर हो जाता है वैसे ही शुद्ध-बुद्ध परमात्म-स्वरूप होते हुए भी जीवात्मा माया के जाल में फँसकर अपने अनन्त ब्रह्माधिष्ठान-स्वरूप से विस्मृत हो माया-दास बनकर अनेकानर्थ-परिप्लुत भवाटवी में भटकता हुआ दीन-हीन बना रहता है। अतः माया का चरणस्पर्श न करना ही जीवात्मा के कल्याण का एकमात्र मार्ग है। भगवती श्रुति याद दिलाती हैं। 'द्वा सुपर्णा-सयुजा सखाया' (ऋग्० १.१६४.२०) संसार ही वह वृक्ष है 'सदा वृश्चनात् वृक्षः' जो निरन्तर छिन्न-भिन्न होता रहे वही संसार है। जैसे दीप-शिखा क्षण-भंगुर होती हुई भी प्रवाह-रूप में नवनवायमान बनी रहती है अथवा गंगाजल-प्रवाह प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते हुए अनुभूत नहीं होता वैसे ही क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन एवं विनाश को प्राप्त होने वाला यह संसार असत् होते हुए भी प्रवाहरूप में स्थित प्रतीत होता है। त्रिपुरा-रहस्य में कहा गया है कि सुभक्तजनों द्वारा भजनीय परम-तत्त्व की प्राप्ति कैतव रहित होने पर ही सम्भव है। 'फलानुसंधानमिच्छतः' फलानुसन्धान ही कपट है; फल की इच्छा से भजन में प्रवृत्त होना ही कपट है; फलानुसन्धान-रूप कपट को त्यागकर ही भगवत्-भजन में प्रवृत्त होना चाहिए। भक्त में मद नहीं होता; उसमें दैन्य ही प्रधान होता है।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(शिक्षाष्टक)

अर्थात्, तृणसे भी कोमल और वृक्ष की भाँति सहिष्णु एवं अहंकारशून्य होकर ही हरि-कीर्तन करना चाहिए। कठोर होकर, दूसरों को हानि पहुँचा कर, मदान्ध होकर हरि-भजन कदापि सम्भव नहीं। अतः हे जीव! तू कितव-बन्धु, मधुपका संग न कर!

✤

४

गोप्युवाच

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥

(१०.४७.१३)

अर्थात्, हे मधुप! जैसे तू काला है वैसे ही वे भी काले हैं। तू पुष्पों का रस लेकर उड़ जाता है वैसे ही वे भी हैं; हमें केवल एक बार अपनी मोहिनी परम-मादक अधर-सुधा पिलाकर वे भी हमें छोड़ गये। पता नहीं कि सुकुमारी लक्ष्मी कैसे अहर्निश उनके चरणकमलों की सेवा में रत रहती हैं। अवश्य ही वे इस छैल-छबीले की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गयी होंगी।

इस श्लोक में विभिन्न क्रियाओं का वर्णन है तथापि उनके कर्ता का नामोल्लेख नहीं है। राधारानी का प्रणय-कोप ही इसका कारण है। पूर्व श्लोक से निर्दिष्ट कर्ता मधुपति को ही उक्त नाना क्रियाओं का कर्ता समझना चाहिए।

'सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा' तात्पर्य कि 'अधरीकृता सुधापि यया।' अर्थात् अमृत को भी नगण्य कर दिया है जिसने ऐसी अधर-सुधा। श्रीकृष्ण के मंगलमय अधरोष्ठ ही अचिन्त्य, अनन्त, सुधा-समुद्र, परात्पर-परब्रह्म का सार-सर्वस्व है। निर्गुण, निराकार, निरुपाधिक परब्रह्म वेदान्तवेद्य हैं। सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन, अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-परिपूर्ण हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा पूर्ण ब्रह्म सनातन हैं। भागवत-सिद्धान्त है, 'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' (१०.१४.३२) व्रज-वासियों का परम मित्र श्रीकृष्ण ही पूर्ण ब्रह्म सनातन है। महाभारत में देवर्षि नारद कहते हैं—

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन॥

(सभापर्व ३९.९)

अर्थात् कमलदल के समान जिनके नयन हैं ऐसे परमात्मा श्रीकृष्ण का जो पूजन नहीं करते वे जीवित होते हुए भी मृतवत् ही हैं। ऐसे लोगों से वार्तालाप भी करना नहीं चाहिए।

कृषिर्भू-वाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

अर्थात्, 'कृष् भू-वाचक और 'ण' निर्वृति-वाचक है; अतः कृष्ण-शब्द निर्गुण, निराकार, निर्विकार, परात्पर परब्रह्म के साथ ही साथ सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन-स्वरूप का भी द्योतक है। कृष्ण-स्वरूप ही रसात्मक है। 'हसितं मधुरं भणितं मधुरं वेणुर्मधुरा रेणुर्मधुरा। मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।' अर्थात् मधुराधिपति भगवान् श्रीकृष्ण का हँसना, बोलना, गाना, उसकी वंशी का नाद, उनकी रेणु सभी मधुर हैं।

यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये।
दधत्यन्तस्तन्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्॥

अर्थात् जब प्राणी अन्तर्मुख होकर, शान्त होकर, अनन्त अखण्ड, परात्पर, परब्रह्म रस का आस्वादन करने लगता है तो उसको अत्यन्त दीर्घकाल भी बहुत अल्प प्रतीत होता है।

अन्यत्र भी कहा गया है—'कोऽयं कृष्ण इति प्रलुम्पति मतिम्।' राधारानी कह रही हैं कि हे सखी! यह कृष्ण कौन है, जो मेरी मति को छिन्न-भिन्न कर देता है? एक क्षण के लिए श्यामसुन्दर मेरे नेत्रांगण में पधारे थे। किन्तु दूसरे ही क्षण विद्युत् की भाँति लुप्त हो गये। सर्वकालिक, सर्वांगीण, संश्लेष के रहते हुए भी राधारानी को प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण, मदनमोहन का प्रादुर्भाव विद्युत्प्रभा की भाँति क्षणमात्र के लिए ही हुआ। इन सबका अभिप्राय यही है कि भक्त को भगवान् के दर्शन से तृप्ति नहीं होती।

'अधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा'। अपनी मोहिनी अधर-सुधा को पिलाकर, 'दुरन्ताम् स्वविषयलालसा-संपादिनीम्' वह अधर-सुधा असाधारणी है, क्योंकि स्व-विषयिणी दुरन्त लालसा का सम्पादन बड़ी सरलता से कर देती है। यदि प्राणी एक बार भी जिस किसी तरह भगवान् से सम्बन्ध जोड़ ले तो फिर उसका विरत होना असम्भव है। अपितु उसकी लालसा निरन्तर ऐसी बढ़ती जाती है कि उसमें अलं-बुद्धि होती ही नहीं। तत्त्वज्ञानी, ब्रह्मविद्वरिष्ठ के लिए भी भगवत्-चरित्रामृत, कथामृतपान का व्यसन बन जाता है, तात्पर्य यह कि भगवत्-चरित्र-कथामृत कहने-सुनने का सुदृढ़ अभ्यास बन जाता है।

'पाययित्वा' शब्द में 'णिच्' है अत: इसका अर्थ हुआ 'स्वयं प्रेरित करते हुए पिलाकर', प्राणीमात्र अन्तर्यामी की प्रेरणा से प्रेरित होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गीता १८.६१)

अर्थात् जैसे सूत्रधार अपनी इच्छानुसार काष्ठ की पुतलियों को नचाता है वैसे ही सर्वाधिष्ठान, सर्वेश्वर परमात्मा भी अपनी इच्छानुसार प्राणी-मात्र को नचाते रहते हैं, प्रेरित करते रहते हैं। भगवल्लीला अत्यन्त विचित्र है। यदा-कदा इस जन्म में संसार में लिप्त प्राणी पर भी उसके जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-पुञ्ज के आधार पर भगवान् उस पर अनुग्रह कर उसको स्वीकार कर लेते हैं, अपना लेते हैं। वृन्दा, तुलसी की कथा इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(वा० रा० २.१.११)

अर्थात् यदि किसी ने कोई सत्कार्य किया है तो भगवान् उसको सदा याद रखते हैं, परन्तु अपकार को मन में भी नहीं लाते। गोस्वामी तुलसीदासजी कह रहे हैं—

रहति न प्रभुचित चूक किए की।
करत सुरत सौ बार हिए की॥

चूक तो प्राणीमात्र से हो जाती है, 'न कश्चिन्नापराध्यति' (वा०रा० ४.३६.११) ऐसा कोई है ही नहीं जिससे कोई अपराध न बना हो। मानव के अपराध को मन में न रखना ही सर्वेश्वर की सर्वेश्वरता, प्रभुता, भगवत्ता है। अकारणकरुणा-वरुणालय, अशरण-शरण, सर्व-शक्तिमान् प्रभु की यही विशेषता है। पूर्वजन्मकृत अभ्यासवशात् ही वामदेव को माता के गर्भ में ही तत्त्व-साक्षात्कार हुआ और उन्होंने 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवान्' (ऋग्० ४.२६.१) जैसे सर्वात्मकताबोधक वाक्य कहे। प्राणी का प्रतिबन्ध, संस्कार बना रहने तक उसको तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता; प्रतिबन्ध के समाप्त होते ही उसको ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्त ध्रुव की कथा इसका सुन्दर उदाहरण है। ध्रुव के अनेकानेक जन्म तपस्या-रत बीते; अन्तत: जन्म-जन्मान्तरकृत तपस्या के फलस्वरूप उनको छ: महीने में ही भगवत्-दर्शन हो गया। गीता का कथन है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। *(७.१९)*

अर्थात् बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझको प्राप्त करता है। मुख्य बात धैर्य की है; धैर्यपूर्वक निरन्तर तपस्या करते रहना चाहिए; छोटे-से-छोटा सत्कार्य भी कभी विफल नहीं जाता।

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

(विष्णुधर्म; रसामृतसिन्धु, पृ० ९९ में उद्धृत)

अर्थात्, भक्ति भक्तवत्सल भगवान् स्वयं को भक्त-प्रदत्त एक तुलसीदल पर, एक चुल्लू पानी पर बेंच देते हैं। तात्पर्य यह कि धैर्य और विश्वास के साथ किया गया छोटे-से-छोटा सत्कर्म भी अवश्य ही प्रतिफलित होता है। सम्भव है कि विरोधी कर्मों के फल-प्रभाव के कारण शुभ कर्मों का तात्कालिक विस्तार प्रतिभासित न होता हो, तथापि वह अभिभूत रहते हुए भी नष्ट न होगा।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २.४०)

अर्थात् निष्काम कर्मयोग का स्वल्प अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा का कारण बन जाता है। अजामिल का आख्यान इसका सुन्दर उदाहरण है। अस्तु, यदि प्राणी एक क्षण के लिए भी मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध भाव से प्रभु की शरण जाता है तो कालान्तर में उसका निःश्रेयस (कल्याण) निःसन्देह होता है। शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्म प्रतिफलित हुए बिना नष्ट नहीं होते। अतः यदा-कदा यह तो सम्भव है कि असत् कर्मों के प्रतिफलित होने तक सत्कर्मों का फल उभर न पाये, तथापि उनका नष्ट होना असम्भव है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

(गीता ७.३)

सहस्र-सहस्र प्राणियों में कोई एक ही इस ओर प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह कि संसार परम्परा के चलते हुए भी जन्म-जन्मान्तर के किसी शुभ-कर्म-फलवशात् प्राणी भगवदभिमुख होता है।

सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।

अर्थात् हे मधुप! जैसे तुम पुष्पों के पराग का रसास्वादन कर उसका त्याग कर देते हो वैसे ही श्रीकृष्ण भी हमको बलपूर्वक अपनी अधर-सुधा पिलाकर त्याग गये हैं। 'सुमनस' शब्द के दो अर्थ हैं, एक पुष्प और दूसरा 'शोभनं मनः यस्य' शोभन है मन जिसका। देवगण, पण्डित, विद्वत्-गण, भक्त-गण सुमनस हैं, शोभन मनवाले हैं। 'मधुप' में यह चमत्कार है कि उसको बहुत दूर-दूर पर

खिले हुए पुष्पों का ज्ञान वायु के आधार पर हो जाता है और वह वहाँ तत्काल पहुँच जाता है। इसी तरह भगवान् भी अपने भक्तों को तत्क्षण जान लेते हैं।

महर्षि नारद की कथा है। नारदजी के हृदय में एक क्षण के लिए भगवान् का मंगलमय स्वरूप प्रस्फुटित हुआ; वे प्रेमोन्माद-समुद्र में निमग्न हो गये; तत्क्षण वह स्वरूप अन्तर्धान हो गया; महर्षि अत्यन्त व्याकुल हो उठे; उस समय आकाशवाणी हुई, 'सुकृद् यद् दर्शितं रूपं एतत्कामाय तेऽनघ' (श्रीभागवत १.६.२३) अर्थात् हे अनघ! मुझमें तुम्हारी उत्कट कामना जाग्रत् हो एतदर्थ ही तुम को मैंने एक क्षण के लिए अपने स्वरूप का साक्षात्कार करा दिया। जैसे मधुप दूर होते हुए भी पुष्प-सुगन्ध से आकृष्ट हो उस तक पहुँचकर ताल-बद्ध मधुर गुञ्जारव करता हुआ पराग-पान कर लेता है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र के मंगलमय श्रीविग्रह का एक क्षण के लिए भी साक्षात्कार हो जाने पर अन्ततोगत्वा प्राणी उनमें लीन हो जाता है।

परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा।

अर्थात् पद्मा, भगवती लक्ष्मी भगवान् के पादपद्मों की परिचर्या करती रहती हैं., शेष-शायी भगवान् का इसी स्वरूप में ध्यान होता है। भगवान् शेष-शय्यापर विश्राम कर रहे हैं और भगवती लक्ष्मी उनका पद-संवाहन कर रही हैं।

सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादपङ्कजमलं भजतेऽनुरक्ता।

(भाग० १.१६.३२)

अर्थात् जिस अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-जननी, भगवान् की ऐश्वर्याधिष्ठात्री भगवती लक्ष्मी का कृपा-कटाक्ष पाने के हेतु ब्रह्मादि देवाधिदेव भी तपस्या करते रहते हैं वह पद्मालया श्रीलक्ष्मी अपने वासस्थान कमल-वन को त्यागकर भगवत्-पदारविन्द में अनुरक्त हो जाती है, क्योंकि वह भोली-भाली देवी 'ह्यपि बल हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः' इस मोहन की चिकनी-चुपड़ी बातों के प्रभाव में फँस गयी।

उपर्युक्त सम्पूर्ण उक्तियाँ राधारानी का परिजल्प हैं, अपने चातुर्य का बोधन और प्रेमास्पद की वञ्चकता, शठता का वर्णन ही परिजल्प का स्वरूप होता है। वस्तुतः भगवान् भक्त को कदापि त्यागते नहीं, तथापि भक्त को यदा-कदा त्याग की प्रतीति होने लगती है। प्रगाढ़ अनन्य प्रेम की यह अत्यन्त विचित्र अवस्था है। इस स्थिति में अत्यन्त सन्निकट होते हुए भी, श्यामसुन्दर व्रजेन्द्र-नन्दन के अंक में विराजमान होते हुए भी राधा-रानी को विप्रलम्भ की ही प्रतीति होती है। इस प्रतीति से भी उनको सन्ताप होता है और वे अपने प्रियतम के प्रति उपालम्भ देने लगती हैं।

मूलतः चिन्तन ही प्रधान है। स्वभावतः ही प्राणी अपने प्रेमास्पद विषयों के चिन्तन में प्रवृत हो जाता है; यह चिन्तन ही सर्वानिष्टों का मूल है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २.६७)

अर्थात् जैसे जल में चलती हुई नाव वायु का अनुसरण कर इतस्ततः होती रहती है वैसे ही विभिन्न विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों का अनुसरण करता हुआ मन भी चलायमान हो कर प्राणी की प्रज्ञा का नाश कर देता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता २.६२)

अर्थात् विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति उत्पन्न होने से तत्-तत् विषयों को प्राप्त करने की उत्कट कामना उत्पन्न होती है, कामना में बाधा पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २.६३)

अर्थात् क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़-भाव से स्मृति-भ्रम होता है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश होता है। बुद्धिनाश से प्राणी का सर्वनाश हो जाता है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि नाना प्रकार के विषयों का चिन्तन करता हुआ प्राणी उनमें आसक्त हो उनको प्राप्त करने की कामना करने लगता है। आसक्तिजन्य इस कामना की उपलब्धि में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित होने पर उस विघ्न के कारण में द्वेष-बुद्धि होने लगती है, द्वेष-बुद्धि के कारण क्रोध होता है, क्रोध से मूढ़-भाव उत्पन्न हो जाता है। अन्तःकरण में क्रोध-वृत्ति के उत्पन्न होने पर विवेकशक्ति का नाश हो जाता है, यही मूढ़-भाव है। विवेक शक्ति के नष्ट होने पर स्मृति-विभ्रम हो जाता है। स्मृति-विभ्रम से कर्तव्याकर्तव्यबुद्धि स्वतः नष्ट हो जाती है, फलतः प्राणी का पतन हो जाता है। अस्तु, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि नाना प्रकार के विषयों का सेवन उतना अनिष्टकारी नहीं जितना उनका चिन्तन।

सांसारिक विषयों का चिन्तन अमङ्गलकारी है, परन्तु यदि चिन्तन की यह धारा भगवद्-विषयिणी बना ली जाय तो वह सर्व अमङ्गल का विघटन कर

निश्रेयस (कल्याण) कारिणी बन जाती है, निरन्तर चिन्तन करते रहने से मन अपने अनुसन्धान के विषय में अवरुद्ध होने लगता है, यही प्रेम-निरोध का स्वरूप है। सर्वशक्तिमान्, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दघन, परमात्मास्वरूप में प्रेम-निरोध हो जाना ही परम पुरुषार्थ है।

'परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा।' चञ्चला, चपला, लक्ष्मी भी अनादिकाल से भगवत्-पादारविन्दों की सेवा कर रही हैं। 'पदोर्माति इति पद्मा' जो भगवत्-पादारविन्दों में समा जाय वह पद्मा। सायुज्य-प्राप्त भक्त ही पद्मा हैं। सायुज्य-प्राप्त भक्त ही भगवत्-चरणारविन्दों में संलग्नअङ्घ्रि है। 'पद्भ्यां भूमिः' भगवत्-चरणारविन्द ही भूमि है, अथवा भगवत्-चरणारविन्दों से ही भूमि का आविर्भाव हुआ है। शास्त्रों में विराट्-स्वरूप के वर्णन के अन्तर्गत भूमि को ही भगवान् का पाद कहा गया है। 'पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः' (भाग० ८.५.३२)। तात्पर्य यह कि भगवान्-चरणारविन्दों में तल्लीन न होने पर ही पद्मा की भाँति सेवा-आराधना सम्भव हो सकती है।

'उत्तमश्लोकजल्पैः', 'परपक्ष-खण्डनपूर्वकं स्वपक्षमण्डनमेव तर्कः', तर्क भाषा ही जल्प है। नारदादि भक्तों के जल्प, तर्क-भाषा के द्वारा पराभूत होकर चञ्चला लक्ष्मी भी भगवत्-पादारविन्दों में अचला बनकर रह गयी, क्योंकि 'ह्यपि बल हृतचेताः'—इन तर्कभाषाओं ने उनका चित्त ही अपहृत कर लिया है।

श्रौत-पक्षानुसार उक्त श्लोक का अर्थ है कि गोपाङ्गनारूपधारिणी श्रुतियाँ कह रही हैं, हे जीव! तू माया सपत्नी के चरण-स्पर्श के कारण अधर, निकृष्ट अथवा छोटा हो गया है। इनसका साथ छोड़ दे। श्रुति-वाक्य है—अनीशया शोचति मुह्यमानः' (श्वे० ४.७)। तात्पर्य यह कि जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्म-स्वरूप होते हुए भी माया से मोहित होकर अनेकानर्थ से परिप्लुत होकर भवाटवी में भटकता हुआ दीन-हीन एवं परतन्त्र बना रहता है। सम्पूर्ण दीनता, परतन्त्रता, आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप का मूल माया, अविद्या ही है। 'महिमानमिति वीतशोकः' (श्वे० ४.७)। इस माया-सम्बन्ध को त्यागकर भगवत्-स्वरूप में परिनिष्ठित होने पर जीवन अपने शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

माया जड़ है; अनन्त, अखण्ड, परात्पर, परब्रह्म प्रभु की सत्ता और स्फूर्ति को प्राप्तकर ही माया सत्ता और स्फूर्ति-लक्षणा होती है। सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् माया की सत्ता-स्फूर्तिरूप अधर-सुधा को पिलाकर विश्व का उत्पादन, पालन एवं संहरण कार्य सम्पादन कर उसका त्याग कर देते हैं। जीव मायावशवर्ती हो दीन-हीन हो उसका अनुसरण करता है। माया भगवत्-

वशवर्तिनी है। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

परबस जीव स्वबस भगवन्ता।

'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः'। (पञ्चदशी १.१६) माया में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब हो माया को वश में कर ईश्वर बन जाता है। माया का त्याग करने पर जीव अपने मूल-स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

'पाययित्वासुमनस' पद उच्चारण-भेद से 'असुमनस्' शब्द भी बन जाता है। 'असुमन' का अर्थ है जीव; 'असुभिः इन्द्रियैः' इन्द्रियलक्षणैः असुभिः मा प्रमा यस्य स असुमः'। उसके सम्बोधन में हे असुम! असमु माने प्राण; प्राण का तात्पर्य इन्द्रियाँ, प्राण, इन्द्रियों के द्वारा प्रमा होती है जिसको वह असुम है। जीव को सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है, अतः वह असुम है। इन्द्रिय-जन्य यह ज्ञान अत्यन्त सीमित है।

असुम शब्द का एक और भी अर्थ है—'असुभिः कृतेषु पादादि कार्यकरणात्मकसङ्घातेषु मा आत्मा बुद्धिर्यस्य सः असुमस्तत्सम्बुद्धौ'।

अर्थात् प्राणादि उपलक्षित संघात ही असुम है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार के झुरमुट, कार्य-कारण-संघात में, अनात्मा में तादात्म्याभिमानवाला अथवा सीमित ज्ञानवाला जीव ही असुम है।

श्रुतिका कथन है कि अखण्ड, अनन्तब्रह्माण्डनायक, परमात्मा, परब्रह्म प्रभु ही सच्चिदानन्दघन सगुण रूप में प्रकट होते हैं तथापि वे सदा-श्रुतियों के ही प्रतिपाद्य बने रहते हैं। जीव-मायाभिभूत हो श्रुतियों को त्याग देता है। तात्पर्य यह कि जीव माया-अविद्या के वशीभूत होकर श्रुति के प्रतिपाद्य स्वात्मचिद्घन-स्वरूप से विस्मृत हो देहादि अभिमानवान् होकर अनात्म-तादात्म्यवान् हो दीन-हीन हो जाता है। भक्त हनुमान्जी अपने प्रभु राघवेन्द्र रामचन्द्र के प्रति कह रहे हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम पूछहु कस नर की नाईं॥

जीव अल्पज्ञ है; श्रुति एवं सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन एवं श्रवण से जीव सम्पूर्ण अनर्थों से बच जाता है। 'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' (तै० १.९.१) स्वाध्याय एवं प्रवचन की उपेक्षा कदापि न करें; भगवत्-कृपा से ही संत-समागम सम्भव होता है।

जीव अल्पज्ञ है, अल्पशक्तिमान् है, अतः यदा-कदा उसको निराशा घेरने लगती है। श्रुतियाँ ही उसको इस निराशा-पिशाची के विरुद्ध सावधान करती हैं; 'भवादृक्' वह भी तुम्हारे ही समान है। 'द्वा सुपर्णा, सयुजा सखाया।' (ऋग्वेद

१.१६४.२०) तुम दोनों ही इस एक शरीर पर रहने वाले समान जाति और वर्णवाले दो पक्षी हो—तुम दोनों में सख्य भी है।

'पाययित्वा सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।' वे भी मधुप की भाँति रस पी चुकने पर तत्-क्षण हमको त्यागकर चले गये। 'मधुप' और 'मधुरिपु' में एक बहुत बड़ी भिन्नता भी है। 'मधुपस्तु सुमनसां रसं पीत्वा गच्छति' भ्रमर तो पुष्पका रस पीकर उड़ जाता है। परन्तु मधुरिपु श्रीकृष्ण तो अपना ही अधरामृत पान कराकर चले गये। जैसे भ्रमर के रस-पान के बाद पुष्प अकिञ्चित्कर, रस-रहित हो जाता है वैसे ही भगवत्-रस प्राप्त हो जाने पर जीव अन्यत्र रसानुस्वाद में असमर्थ हो जाता है। 'इतररागविस्मारणं नृणाम् (भाग० १०.३१.१४) यह रस संसार के अन्य सम्पूर्ण रसों को भुला देता है। तात्पर्य कि भगवत्-अधर-सुधारस का एकमात्र उद्देश्य जीव के अन्य सम्पूर्ण पुरुषार्थों का व्यापादन कर, लौकिक एवं पारलौकिक सम्पूर्ण पुरुषार्थों से वञ्चित कर भगवत्प्राप्ति की दूरन्त लालसा को अभिवृद्धिंगत करना ही है। सद्योहृद्यवरुद्ध्यते' (१.१.२) भगवत्-स्वरूप सौन्दर्य-माधुर्य को अनुभूत कर प्राणी का अन्तःकरण सद्यः उसमें अवरुद्ध हो जाता है। द्रवीभूत चित्त में ही भगवत्-स्वरूप का प्राकट्य सम्भव है। जैसे पिघली हुई लाह में डाला गया रंग स्थायी भाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही द्रवीभूत अन्तःकरण में आविर्भूत भगवत्-स्वरूप भक्त-मानस पर स्थायी हो जाता है। भक्त के चित्त का अवरोध होने पर भगवान् भी उसमें अवरुद्ध हो जाते हैं।

'परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा उत्तमश्लोक-जल्पैः' न्यायशास्त्र में तीन प्रकार की कथा मानी गयी है—वाद, जल्प और वितण्डा। तत्त्वनिर्णयावसाना वाद-कथा', गुरु-शिष्य, वादी-प्रतिवादी में तत्त्व-निर्णय हेतु परस्पर विचार-विनिमय ही 'वाद' कथा है; स्वपक्षस्थापनहीन पर पक्षखण्डन ही वितण्डा-कथा है और स्वपक्ष स्थापनापूर्वक परपक्ष-खण्डन ही जल्प-कथा है। नारदादि-भक्तों के जल्प के कारण ही विचारी पद्मा पराभूत होकर भगवान् के पाद-संवाहन में निरन्तर संलग्न है। तात्पर्य यह कि भगवत्-भक्तों का सत्संग करने से भगवत्-चरणारविन्दों में भक्ति उद्बुध होती है; साथ ही निरंतर अभिवृद्धिंगत भी होती रहती है।

'सुमनसः' अर्थात् देवता-गण। पुराणों में क्षीर-सागर के मंथन तथा भगवान् विष्णु द्वारा देवताओं को अमृत पिलाने-हेतु मोहिनीरूप धारण करने की कथा सुप्रसिद्ध है। यहाँ गोपाङ्गनाएँ वक्रोक्ति करती हैं कि जैसे उस समय आपने देवताओं का पक्ष लेकर असुरों को मोहित कर देवताओं को अमृत पिला दिया

था, वैसे ही आपने हमें भी जबरदस्ती अपनी अधर-सुधा पिलाकर हमको त्याग दिया।

उक्त पद में 'परिचरति' वर्तमान-काल का द्योतक प्रयोग हुआ है। अत: अर्थ हुआ कि पद्मा अनादिकाल से अद्यावधि निरन्तर भगवत्-पाद संवाहन में संलग्न है। सम्पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति अधिष्ठान पर ही स्थित है। 'देशकालान्त:पाती जगत्' देश-काल भगवान् के अन्तर्भूत है, सुतरां देश-कालान्तरवर्ती सम्पूर्ण जगत् भगवान् में ही स्थित है। जैसे स्वप्न में दृष्ट अथवा दर्पण-दृष्ट दृश्य मिथ्या है वैसे ही मायाजन्य विश्व-प्रपञ्च, जगत् ही मिथ्या है अथवा 'असत्' है। अनन्त, अखण्ड सत्ता से ही माया के कारण जगत् में भी सत्यता की प्रतीति होती है। जैसे बीज की उत्पादिनी शक्ति बीज में ही निहित रहती है, वैसे ही अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन करने वाली प्रकृति, अविद्या अथवा मायाशक्ति भी अखण्ड, अनन्त, परात्पर परब्रह्म प्रभु में ही लीन रहती है। कारण व्यापक है, कार्य व्याप्य है; जैसे समुद्र व्यापक है, तरंग व्याप्य है; समुद्र में तरंगें होती हैं; तरंगों में समुद्र नहीं होता, वैसे ही माया अपने कार्य विश्व-प्रपञ्च में नहीं समा सकती। 'पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर:' कार्य-वर्ग अथवा कार्य-प्रपञ्च से पूर्व ही 'तम' माया अथवा अविद्या-शक्ति सिद्ध है अत: पश्चात्-भावी कार्य-कारण माया का आश्रय कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि कार्य ही कारणाश्रित है, कारण कदापि कार्याश्रित नहीं होता। एतावता, अविद्या, माया का कार्य जीव एवं जगत् अविद्या, माया का आश्रय नहीं हो सकता। माया स्वात्माश्रया भी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अधिष्ठान पर ही आश्रित रहती है। अस्तु, माया, अविद्या, प्रकृति अथवा चित्-अचित् शक्ति न तो स्वाश्रित है और न स्वकार्याश्रित है; सुतरां निर्भाव चिति, सर्व-भाव-शून्य, स्वप्रकाश चिति, अखण्ड-बोध ही मायाशक्ति का एकमात्र आश्रय है। अस्तु, अनादिकाल से अद्यावधि पर्यन्त निरन्तर पद्मा भगवत्-चरणों के आश्रित रहती हुई भगवदाराधाना करती हैं।

५

गोप्युवाच

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥

(१०.४७.१४)

अर्थात् हे भ्रमर! तू हमलोगों के सम्मुख यदुवंश-शिरोमणि यदुपति का इतना गुण-गान क्यों कर रहा है? वे हमारे अत्यन्त परिचित हैं। तू जा और जिनके साथ विजय सदा रहती है ऐसे यदुपति की मधुपुर-निवासिनी सखियों को उनका गुण-गान सुना; क्षपित-कुच-रुज सखियाँ ही तेरी मधुर-वाणी से प्रसन्न हो सकेंगी।

शुद्ध परिष्कृत चित्त से ही 'श्रीमद्भागवत' के इन अत्यन्त रसमय, माधुर्य-भावप्रधान श्लोकों को यथार्थ में समझा जा सकता है। वस्तुतः सगुण-भाव को आत्मसात् कर लेना अत्यन्त दुर्गम है।

सुगम अगम दुर्गम चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय।
निर्गुण रूप सुगम अति, सगुण न जाने कोय॥

(श्रीरामचरितमानस)

देहाभिमानी प्राणी के लिए निर्गुणोपासना दुःसाध्य है, तथापि सगुण-उपासना में भ्रान्ति भी हो जाती है। अतः लौकिक स्तर से परे होकर परिमार्जित दृष्टिकोण से ही इस विषय को समझा जा सकता है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२.३-४)

अर्थात् जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भलीभाँति वश में करके मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस बहने वाले अचल, नित्य, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सबमें समान-भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२.५)

अर्थात् सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःख-पूर्वक प्राप्त की जाती है।

'किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूनामधिपतिम्।' हे षडङ्घ्रि! हे षट्-पद भ्रमर! तू बहुत ही अविवेकी है। यहाँ हम व्रजवासी-जन अपने प्रियतम के विरह-जन्य तापसे संतप्त हैं और तू गा रहा है। तेरा यह गान भी 'क्षते क्षारमिव क्षिपसि' घाव पर नमक छिड़कने जैसा है; क्योंकि तू हमारे नन्दनन्दन, व्रजेन्द्र-नन्दन गोपाल को यदुपति कहते हुए उनकी स्तुति कर रहा है। हे षट्पद भ्रमर! तू निश्चय ही अविवेकी है। द्वि-पद मनुष्य विवेकी होता है; चतुष्पदी पशु भी विवेक-बुद्धिशून्य होते हैं और तुम तो षट्पदी हो; पशु से भी ड्योढ़े हो; तात्पर्य यह कि पशु से भी अधिक अविवेकी हो। गोपाङ्गनाएँ भ्रमर के गुञ्जारव में कल्पना करती हैं मानो उत्तर देते हुए भ्रमर कह रहा है कि 'गान तो मेरा स्वभाव ही है।' प्रतिउत्तर करती हुई वे कह रही हैं, अगृहाणां नः अग्रतः किम् बहु गायसि।' तेरा गान स्वार्थ हेतु हो तो हमें क्या लाभ; क्योंकि हम तो 'अगृहाणाम्' हैं। 'गृहिणी गृहमुच्यते' गृहिणी ही घर है; तात्पर्य यह कि गृहिणी से ही घर बनता है। 'त्यजितगृहिणीभावानाम्' श्रीकृष्ण ने तो हमारे गृहिणी-भाव को ही त्याग दिया है। 'त्यजितगृहिणीभावानां नः अस्माकं पुरतः' हम ऐसी गृहिणी-भाव-त्यक्ता गोपाङ्गनाओं से तुमको क्या प्राप्त हो सकेगा? वस्तुतः व्रजाङ्गनाएँ अपनी 'अगृहाणाम्' बिना घरवाली स्थिति को ही व्यक्त कर रही हैं। स्त्री के लिए दो घर अपने होते हैं; एक जहाँ वह जन्म लेती है और दूसरा जहाँ उसका विवाह होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी मधुर-वंशीरव के माध्यम से अपनी लोकोत्तर माधुर्य-पूर्ण सुधा को पिलाकर हमारे दोनों घर छुड़ा दिये; तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण पूर्वाग्रह से मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, स्वयं भी हम लोगों को छोड़कर मथुरा चले गये। 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' जैसी स्थिति हमारी हो रही है। 'स्वगृह-पतिगृह-विधुराणां मार्गेस्थिताम्' स्वगृह और पतिगृह दोनों से विधुर

हो हम मार्ग में खड़ी हैं। अतः हम तुझे क्या दे सकती हैं? तुझको हम लोगों से कोई लाभ न होगा।

हे मधुप! यदि तू स्वार्थ-हेतु नहीं, अपितु परार्थ-हेतु ही गान करता है तब तुझको अन्य की रुचि के प्रति विशेष सावधान रहना चाहिए। यदि तू परोपकारार्थ ही गा रहा है तो ऐसा गान गा जो हमको अभीष्ट हो, जिसे सुनकर हमें सुख मिले। 'अस्माभिः बहुधा श्रुतस्य' तुम तो श्रीकृष्ण का गान कर रहे हो, परन्तु हमने तो उनका गान अनुभव किया है। तुम उनको निरञ्जन कहते हो। परन्तु हमारी यशोदा रानी तो नित्य उनकी आँखों में अञ्जन लगाती थीं। उनको निर्विकार कह कर तुम उनका यश-गान कर रहे हो, परन्तु हमने तो उनको यशोदा मैया से ताड़ित होने पर आँसू ढलकाते देखा है। मदन-मोहन, श्यामसुन्दर, गोपाल का हमने बहुधा अनुभव किया है; उनका दर्शन किया है; उनकी वाणी का श्रवण किया है; उनकी लीलाओं एवं स्वरूपों का सांगोपाङ्ग अनुभव किया है।

वस्तुतः भगवत्-चरित्र कथा के अधिकाधिक कथन-श्रवण से आनन्द की वृद्धि होती है और भगवत्-स्वरूप में लोकोत्तर चमत्कार प्रतिक्षण अनुभूत होता है, तथापि गोपाङ्गनाएँ प्रणय-कोप जन्य असूया-वशात् दोषानुसन्धान करती कह रही हैं, हे षडङ्घ्रे! तुम्हारे यदुपति हमारे लिए 'पुराणम्' चिरपरिचित हैं 'अग्रतो नः पुराणम्' वे हमारे लिए बहुत पुराने हैं। 'अगृहाणां नः पुरतो यदूनामधिपतिं गायसि' हे मधुप! यदुवंशियों के सम्बन्ध से कृष्ण ने हमें त्याग दिया है; ऐसे हमारे अपकार-कर्ता यदुपति का गान करके तुम परोपकार भी नहीं कर रहे हो।

कई टीकाकारों ने 'षडङ्घ्रे' शब्द का अर्थ किया है 'षट्सु दर्शनेषु अङ्घ्रिः यस्य' षट्-दर्शन-शास्त्रों में अबाध गति है जिसकी वही 'षडङ्घ्रि' है। उद्धवजी 'शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः' (१०.४६.१) स्वयं बृहस्पति के शिष्य, महान् दार्शनिक एवं महापण्डित हैं।

'षडङ्घ्रिः' शब्द का एक अन्य अर्थ यह भी है कि 'षट्सु विषयेषु अङ्घ्रिः यस्य' जिसका पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और छठे मन के विषय सुख-दुःख में सम्यक् संचरण हो वही 'षडङ्घ्रि' है। जो स्वार्थी और विषयी न हो वही षडङ्घ्रि है जो स्वार्थी और विषयी है वह व्रज की भावनाओं को, व्रज के रहस्य को नहीं जान सकता, उसके द्वारा किये गये गान का व्रज में कोई महत्त्व नहीं।

भ्रमर का गान स्वभावतः न्यूनाधिक होता रहता है; उसके न्यून होने पर राधारानी कल्पना करती हैं कि उनकी फटकार के कारण ही भ्रमर क्षुब्ध हो गया है। अतः वे कह रही हैं—हे षडङ्घ्रे! तुम विजय-सख श्रीकृष्ण की रुक्मिणी,

सत्यभामा, जाम्बवती प्रभृति सखियों के सम्मुख ही यदुपति की यश-गाथा का गान करो ताकि तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो सके। 'ता इष्टाः कृष्णस्य' वे ही कृष्ण को अत्यन्त प्रिय हैं। उनसे अभ्यर्थित, सम्मानित हैं। अथवा 'त्वया इष्टाः' तुम से अभ्यर्थित, सम्मानित होने पर वे तुम पर प्रसन्न होकर तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करेंगी। हे मधुप! व्रजेन्द्रनन्दन, गोपिका-वल्लभ, राधा-वल्लभ श्रीकृष्ण को यदुपति और रुक्मिणी-वल्लभ, सत्यभामा-वल्लभ कहकर गान करोगे तो वे अत्यन्त प्रसन्न हो जायँगी। 'एवं त्वया इष्टा सम्मानिताः सत्य इष्टम् अभीष्टं कल्पयन्ति', इस तरह तुमसे सम्मानित होकर वे तुम्हारा अभीष्ट करने में समर्थ हैं, क्योंकि वे 'क्षपितकुचरुजस्ताः' हैं। श्रीकृष्ण के सम्पर्क से उनके मनोज-जन्य हृत्-ताप का शमन हो गया है। जिसने पुरुषार्थ प्राप्त किया है वही अन्य को कुछ दे सकता है।

'विजय-सख' एक के बाद एक, अर्थात् अनेकानेक विजय प्राप्त करने वाले श्रीकृष्ण, अथवा 'महाभारत-युद्ध' के विजयी अर्जुन के सखा श्रीकृष्ण। विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार सर्वज्ञ श्रीकृष्ण का निरन्तर ध्यान करते-करते गोपाङ्गनाएँ भी सर्वज्ञा हो गयीं, परिणामतः उनको भविष्य में होने-वाली घटनाओं एवं सम्बन्धों का स्पष्ट भान होने लगा था। अतः उन्होंने श्रीकृष्ण के लिए 'महाभारत के विजेता अर्जुन से सखा' जैसे सम्बोधन का प्रयोग किया। 'श्रीमद्भागवत' में इस प्रसंग से सम्बद्ध एक और उल्लेख भी मिलता है। बालकरूप में श्रीकृष्ण ने सात दिन-रात पर्यन्त अपनी कनिष्ठिका अंगुलि पर गोवर्धन को उठाये रखकर इन्द्र के कोप से व्रजधाम की रक्षा की । मान-भंग होने पर, श्रीकृष्ण के परात्पर, परब्रह्म स्वरूप को पहचान कर इन्द्र ने व्रजधाम आकर उनकी पूजा की और उनकी स्तुति करते हुए उनको गोविन्द नाम से सम्बोधित किया। 'गोविन्द' शब्द का अर्थ है 'गवाम् इन्द्रः, गवां गोपानां गोपीनां गोष्ठानां च इन्द्रः' गो, गोप, गोपी एवं गोष्ठ के इन्द्र, स्वामी ही 'गोविन्द' हैं। इन्द्र के साथ भगवान् ही उपेन्द्र रूप से रहते हैं। उपेन्द्र ही इन्द्र को प्रस्थापित करते हैं। वही उपेन्द्र यहाँ 'गोविन्द' रूप में प्रकट हुए हैं। ऐसा जानकर इन्द्र ने उनसे अपने पुत्र के रक्षार्थ प्रार्थना की थी। इस आधार पर भी गोपाङ्गनाओं के मन में विजयी अर्जुन के प्रति संस्कार स्थापित हो चुका था।

'भ्रमर-गीत' विजल्प है। गूढ़मानपूर्वक प्रसक्त असूया के द्वारा सपत्नी जनों के प्रति कटाक्ष की विविध उक्तियाँ जिसमें हो वही विजल्प है। वृषभानु-नन्दिनी, राधारानी ने मधुप के ब्याज से श्रीकृष्ण के प्रति अपने गूढ़ मान और सपत्नी जनों के प्रति कटाक्ष अभिव्यक्त करते हुए असूया की अभिव्यञ्जना की

है। सामान्य दृष्टि से यह अत्यन्त लौकिक है, परन्तु गम्भीर विचारपूर्ण दृष्टि से सम्पूर्ण अभिव्यञ्जना सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान्, परात्पर, परब्रह्म में पूर्णतः घटित हो जाती हैं, अतः इनका लोकोत्तर महत्त्व है।

सामान्यतः तृष्णा निन्दनीय है, परन्तु वही तृष्णा भगवद्-विषयक होने पर जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्ज का परिणाम मानी जाती है। इसी तरह असूया करना, कटाक्ष करना भी दोष ही है। तथापि जिनका अन्तःकरण निखिल-रसामृतमूर्ति सच्चिदानन्दघन भगवान् का चिन्तन करते-करते रसात्मक, रसामृत-सिन्धु हो गया है उनके विभिन्न भाव भक्ति-रसामृत-सिन्धुकी विभिन्न लहरियों का स्वरूप ही है। जैसे, रसेन्द्र पारद में गन्धक का निरन्तर निघर्षण करते रहने पर गन्धक निज स्वरूप को त्यागकर रसेन्द्र-रूप ही हो जाता है वैसे ही चित्त भी निखिलरसामृत भगवान् का ध्यान करते-करते, चिन्तन-मनन करते-करते तत्-स्वरूप हो जाता है। उसकी लौकिकता, भौतिकता, बाधित हो जाती है। ऐसे द्रवीभूत अन्तःकरण पर ही श्रीकृष्ण का प्राकट्य होता है। ऐसे द्रवीभूत चित्त के विभिन्न भाव, असूया, कटाक्ष आदि रूप में अभिव्यञ्जित होते हुए भी न तो विकार है, न विकाराभास ही है। ऐसा विजल्प भगवान् श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रिय है। इस विजल्प का रसास्वादन करने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही मधुपरूप में पधारते हैं।

श्रौत अर्थ में 'षडङ्घ्रि' शब्द जीव का द्योतक है। षडङ्घ्रि, अर्थात् षट्पदयुक्त; पाँच ज्ञानेन्द्रिय और छठा मन ही जीव के छह पद हैं। इन छहो पदों से ही जीव विषय-वन में निरन्तर भ्रमण करता रहता है। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे षडङ्घ्रि! हे जीव तू अनात्म-तादात्म्याभिमानवान् होकर अनेकानर्थपरिप्लुत भवाटवी में भटक रहा है। यदि तू माया का सम्पर्क त्याग दे तो तू 'अधर', निकृष्ट न रहकर स्वस्वरूप, साक्षात् परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो जायगा। अपने श्रुति-प्रतिपाद्यस्वरूप, अनन्त चित् एवं अनन्त बोध-स्वरूप को भूलकर, अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय पञ्चकोषों के तादात्म्याभिमानवान् होकर जीव संसारी, निरन्तर भ्रमण करने वाला हो जाता है।

'अस्मान् न तत्यजे' सर्वेश्वर भगवान् ने हम श्रुतियों को नहीं त्यागा, तात्पर्य यह कि अपने श्रुति-प्रतिपाद्य, अनन्त, अखण्ड, निर्विकारस्वरूप से परात्पर परब्रह्म विराजमान हैं। जीव माया के वशीभूत हो कर्ता-भोक्ता बना रहता है। सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् परमात्मा माया से विलग और उदासीन रहते हुए उसको वशीभूत कर लेते हैं। जो माया के वशीभूत हो जाते हैं उसको माया अनेकानेक नाच नचाती रहती है; परन्तु जो उससे उदासीन हो जाते हैं उसको वह भजती है। यही कारण है कि माया, पद्मा निरन्तर भगवत्-पाद-पद्मों की परिचर्या में

संलग्न रहती है। हे जीव! तू भी उस सर्वाधिपति का अनुसरण करते हुए माया का त्यागकर स्व-स्वरूप में स्थिर हो जा। तू भी 'भवादृक्' है; न भूल कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋग्० १.१६४.२०) तुम दोनों ही परस्पर सखा हो और सयुज हो। 'समानः अविशेषः युक् तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धा ययोस्तौ सयुजौ'। तादात्म्य-लक्षणा-सम्बन्ध तुम दोनों का समान है; तुम दोनों में साजात्य, सायुज्य और सख्य सम्बन्ध है।

पुरञ्जन-पुरञ्जनी की कथा इसका सुन्दर रूपक है। पुरञ्जक नामक एक राजा था; एक दिन शिकार खेलते वह वन-प्रदेश में गया; वहाँ उसने एक सुन्दर स्त्री को देखा; उस सुन्दरी युवती पर मुग्ध हो उसने विवाह का प्रस्ताव किया, पुरञ्जनी नामक उस कन्या ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, दोनों का विवाह हो गया। वे दोनों एक नगरी में रहने लगे; इस नगरी के दस दरवाजे थे; पाँच फणोंवाला सर्प उसकी रक्षा करता था। दस गन्धर्व भी उसकी रक्षा में तत्पर थे। पुरञ्जनी के साथ रहते-रहते पुरञ्जन उसमें इतना आसक्त हो गया कि क्षण-प्रतिक्षण उसका अनुसरण करने लगा। एक दिन किसी दुश्मन ने उस नगरी पर हमला कर दिया, उसमें आग लगी दी, वह नगरी भस्म हो गयी। पुरञ्जन दुश्मनों द्वारा पकड़ लिया गया और मारा गया। मरते समय भी उसका मन पुरञ्जनी में ही लगा रहा, अतः दूसरे जन्म में वह उसी रूप को प्राप्त हुआ। पुरञ्जनी का भी पुरञ्जन के चिन्तन के कारण उस रूप में ही पुनर्जन्म हुआ। समय आने पर पुनः उनका विवाह हुआ। कुछ काल तक राज्य-सुख भोगकर वे दोनों तपस्या करने वन में चले गये। वहाँ दुर्दैव-वशात् पुरञ्जन की मृत्यु हो गयी; पुरञ्जनी विलाप करने लगी। ऐसे समय में भगवान् हंसरूप में प्रकट हुए और उपदेश किया :

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥

(४.२८.६२)

अर्थात् जो मैं हूँ वही तुम हो; जो तुम हो वही मैं हूँ। अन्तर्मुख होकर सूक्ष्म-दृष्टि से विचारकर कविजन हम दोनों में कदापि भेद नहीं देखते; तुम जीव और मैं परमात्मा, दोनों ही संसाररूप वन में शरीररूपी एक ही वृक्षपर एक ही साथ रहते हैं। हम दोनों सखा भी हैं; सजातीय भी हैं, हम दोनों में, आत्मा-परमात्मा में कभी विछोह नहीं होता, तथापि अविद्या के द्वारा विछोह की प्रतीति होती है, 'मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना।'

पुरञ्जन ही जीवात्मा है, पुरञ्जनी बुद्धि है, शरीर ही दस दरवाजों से युक्त नगरी है; पाँच प्राण ही उसके रक्षक पाँच फणा सर्पवाले हैं; इस नगरी में रहते

हुए पुरञ्जन-पुरञ्जनी, जीवात्मा और बुद्धि में तादात्म्यभाव हो गया; परिणामतः पुरञ्जन जीवात्मा पुरञ्जनी बुद्धि का प्रतिक्षण अनुसरण करने लगा। बुद्धि के लीला-खेला-विलास में संलग्न होने पर आत्मा भी उसका अनुसरण करता हुआ-सा प्रतीत होने लगता है। अन्त में मृत्युरूप शत्रु ने पुरञ्जन को मारकर नगरी में आग लगा दी। मृत्यु के समय प्राणी का चित्त जिस भाव में संलग्न होता है वह उसी भाव को प्राप्त होता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८.६)

इस तरह जन्म-मरण का यह प्रपञ्च चलता रहता है और जीव परिश्रान्त हो जाता है। परिश्रान्त जीव के भगवदुन्मुख होने पर उसके बड़े पुराने, अनादिकाल के सखा परमात्मा हंसरूप में प्रकट होकर उपदेश करते हैं। 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' अनीशा, माया से मोहित होकर जीव बड़ा परेशान होता है परन्तु प्रभु-दर्शन पाकर 'महिमानमिति वीतशोकः' (श्वे० ४.७) शोक-मोहरहित होकर 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्डक० ३.१) निरञ्जन, निर्विकार, सर्वोपाधिविनिर्मुक्त होकर भगवत्-स्वरूप हो जाता है।

सांख्य-सिद्धान्तानुसार प्रकृति स्वतन्त्र है। वही सम्पूर्ण विश्व का कारण है; वही जीवों के सम्पूर्ण भोग, सम्पूर्ण अपवर्ग का सम्पादन करती है। शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्धादि सम्पूर्ण विषय-सम्भोग प्रकृति का ही परिणाम है; विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी प्रकृति का परिणाम हैं, अतः प्रकृति परम स्वतन्त्र है। स्वातंत्र्येण प्रकृति पुरुष का उपकार करती है। जैसे अपने बछड़े को देखकर गाय के स्तनों से दूध स्वभावतः झरने लगता है, अथवा जल निम्न देश की ओर स्वभावतः प्रवाहित होता है उनका कोई प्रवर्तक चेतन नहीं होता इसी तरह प्रकृति स्वतः नाना रूपों में परिणत होती रहती है तथा संसार की नाना व्यवस्थाएँ करती रहती हैं। प्रकृति से भिन्न प्रकृति का कोई अन्य प्रेरक नहीं है।

श्रुति-सिद्धान्तानुसार चेतन से अधिष्ठित हो अचेतन की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणः अचेतन रथ की प्रवृत्ति उसको खींचने वाले घोड़ों और उनके नियामक सारथी पर निर्भर होती है; घोड़ों के बिना रथ चलेगा नहीं; सारथि-रहित होने पर उसकी गति सम्यक् न रह कर इतस्ततः भटकाव वाली हो जायगी। रथ के सम्यक् संचरण-हेतु चेतन सारथी अनिवार्य है। इसी तरह, जगत्-निर्माण-हेतु चेतन अनिवार्य है। श्रुति है—'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय' (छान्दोग्योप० ६.२.३) अर्थात् जग=निर्माता ने विचारपूर्वक जगत् का निर्माण किया। 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' जैसे प्राणी जानकार होने पर ही इच्छा एवं कर्म में समर्थ

होता है वैसे ही कोई चेतन ही जगत् के स्वरूप, निमित्त और उपादान को जानकर जगत्-निर्माण की इच्छा करते हुए जगत्-निर्माण में प्रवृत्त होता है। प्रकृति जड़ है, अत: उसमें ईक्षण सम्भव नहीं; जड़ पदार्थ स्वयं अपने को ही जानने में समर्थ नहीं तथापि अचेतन वस्तु में भी चेतनोपचार होता है। उदाहरणार्थ 'नद्या: कूलं पिपतिषति' नदी का किनारा गिरना चाह रहा है जैसे प्रयोग भी होते हैं। चाहना, इच्छा करना चेतन का धर्म है; कूल अचेतन है, इच्छा नहीं कर सकता तथापि औपचारिक प्रयोग द्वारा ऐसी उक्ति की जाती है। जैसे नदी-कूल के आसन्न-पतन को देखकर 'कूल गिरना चाह रहा है' जैसी उक्ति की जाती है वैसे ही कहा जाता है कि प्रकृति नियंत्रित कार्य करती है। प्राणियों के शुभाशुभ कर्म फलोन्मुख होने पर प्रकृति में विषम परिणाम होता है, साम्यावस्था भंग होती है और वैषम्यावस्था आती है। महत्तत्व, अहं-तत्त्व का आविर्भाव होता है; पञ्च-तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है; षोडश विकार बनते हैं। जैसे कोई प्राणी सोच-समझकर ही किसी कर्म में प्रवृत्त होता है वैसे ही प्रकृति की भी प्रवृत्ति होती है, अत: 'तदैक्षत' कह दिया। परन्तु यह उक्ति यथार्थ नहीं, किन्तु औपचारिक है। अत: कहा जाता है कि प्रकृति स्वतन्त्र है; प्रकृति ही जगत् का कारण है; प्रकृति द्वारा ही जगत् की सम्पूर्ण व्यवस्था होती है, फिर भी भगवान् परात्पर हैं, प्रकृति से परे हैं, प्रकृति से उदासीन हैं; प्रकृति ही परमात्मा के पराधीन है एवं निरन्तर उनका पाद-संवाहन करती रहती है। प्रकृति के वशीभूत हो जीव इतस्तत: भटकता रहता है।

'षडङ्घ्रि' का अर्थ यह भी है कि 'षट्सु विषयेषु अङ्घ्रि अवक्रगति: यस्य।' मन, शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्धादि षट् विषयों में जिसकी अबाध गति हो वही 'षडङ्घ्रि' है। विषय-जनित सुख भगवद्-भक्ति का परिपन्थी है। विषयों में फँसा प्राणी भगवत्-भक्ति-परायण नहीं हो सकता। अस्तु, श्रुति कहती है— 'मोक्षमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज' हे षडङ्घ्रि! हे जीवात्मन्! यदि तू मोक्ष की इच्छा करता है तो विषयजन्य सुखों को विषवत् त्याग दे। 'न: अस्माकं श्रुतीनाम् अग्रत:' हम श्रुतियों के सम्मुख प्रकृति की स्वतंत्रता का गान मत कर। 'न किमपि तत्त्वम् यत:' उसका कदापि अस्तित्व नहीं है। वह अस्तित्वहीन, सार-हीन है। उनमें 'तदैक्षत' (छा० ६.२.३) आदि श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है। प्रकृति में औपचारिक रूपों से कृत्य भले ही हो। 'ऐक्षत' में आत्म-तत्त्व का व्यपदेश हो जाता है। श्रुति में ईक्षण-क्रिया का कर्ता, जगत्-कारण को कहा है। 'तत् तेजोऽसृजत' (छा० ६.२.३) आदि के अनुसार तेज, अप्, अन्न, पृथ्वी का स्रष्टा-निर्माता ईश्वर है, अचेतन प्रकृति नहीं, क्योंकि ईश्वर में ईक्षितृत्व औपचारिक नहीं, अपितु वास्तविक है। छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति है—

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (६.८.७)। अर्थात्, जगत् का कारण, सम्पूर्ण चराचर प्रपञ्च का कारण आत्मा सजातीय-विजातीय स्वगत भेदों से शून्य है, अद्वितीय है, स्वप्रकाश है; सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च ऐतदात्म्य है। सत्-पद का लक्ष्यार्थ परमात्मा ही आत्मा है, अतः आत्मा में आत्मतत्त्व का व्यपदेश अर्थात् औपचारिक ईक्षितृत्व सम्भव नहीं।

अनात्मा में ही काल्पनिक विचार-कर्तृत्त्व, काल्पनिक ज्ञातृत्व होता है। सांख्य-सिद्धान्तानुसार आत्मा का प्रयोग भी प्रधान प्रकृति में ही होता है। उदाहरण: 'भद्रसेनोऽयम् ममात्मा' राजा अपने मन्त्री अथवा प्रधान के लिए कहता है कि यह भद्रसेन मेरा आत्मा ही है। वह प्रधान अथवा मन्त्री राज का सब काम करता हुआ भी राजा नहीं है, वैसे ही प्रधान प्रकृति भी आत्मा का सब काम करती हुई भी आत्मा नहीं हो सकती। प्रकृति में ही सम्पूर्ण जगत् बनता है, प्रकृति में ही भोग और मोक्ष दोनों ही हैं; भोग और मोक्ष दोनों का ही मूल-मन्त्र प्रकृति ही है; अतः जैसे राजा अपने प्रधान को अपना सर्वार्थकारी होने के कारण ममात्मा कह देता है वैसे ही जीवात्मा की सर्वार्थकारिणी प्रधाना प्रकृति को भी आत्मा कह दिया जाता है। 'ब्रह्मसूत्र (१.१.७) कहता है'—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' आत्मनिष्ठ को ही मोक्ष प्राप्त होता है। मिथ्या अनात्मा में आत्मबुद्धि करने वालों का मोक्ष नहीं होता। प्रधान में ईक्षितृत्व नहीं है, अतः आत्मशब्द का प्रयोग प्रधान के लिए नहीं होता। अनन्त ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान अनन्त, अखण्ड, सच्चिदानन्द परमेश्वर ही है; वही विचारपूर्वक अनन्त-ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है, वह स्रष्टा है। सम्पूर्ण चराचर विश्व-प्रपञ्च उसका ही स्वरूप है। श्रवण, मनन और ध्यान के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेने पर मोक्ष हो जाता है।

माया अनिर्वचनीया है। जैसे अग्नि में दाहकत्व, किंवा बीज में अंकुरोत्पादिनी शक्ति रहती है वैसे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक परमात्मा में अनन्त-प्रपञ्च-निर्माणकर्त्री शक्ति रहती है। यह शक्ति ही माया है। जैसे वह्नि की दाहिका शक्ति वह्नि-रूप नहीं होती अथवा बीज की अंकुरोत्पादिनी शक्ति बीजरूप नहीं होती, अपितु उससे विलक्षण होती है वैसे ही अखण्ड सत् की शक्ति भी सत्-विलक्षण होती है। सत् अत्यन्त अकाट्य, अत्यन्ताबाध्य है परन्तु शक्ति तत्-विलक्षण होने के कारण बाध्य है। अतः श्रुतिरूपी गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे षडङ्घ्रि! हे जीवात्मन्! तुम तो सांख्य-सिद्धान्तानुसार प्रकृति को परम स्वतन्त्र कहकर उसका गान कर रहे हो वह अत्यन्त निरर्थक है, सारहीन है।

'विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्ग' विजय अर्थात् परमात्मा। 'विजये देवा अमहीयन्त'। केनोपनिषद् का कथन है 'ब्रह्म ह देवेभ्योविजिग्ये। (३.१)

देवासुर-संग्राम, राम-रावण संग्राम, कौरव-पाण्डव-संग्राम, कृष्ण-बाणासुर-संग्राम सब एक ही तात्पर्य के द्योतक हैं। प्राणी के भीतर सदा ही द्वन्द्व चलता रहता है; कभी तमोगुण की, कभी सत्त्वगुण की विजय होती है; सत्त्वगुण की वृद्धि ही देवताओं की विजय है। तमोगुण की वृद्धि ही असुरों की विजय है। 'असुषु प्राणेसु रमन्ते ये ते असुराः', असु प्राण; प्राणोपलक्षित अनात्मा में रमण करने वाला ही असुर है। 'सुष्ठु शोभनं ब्रह्म, तत्र ये रमन्ते ते सुराः' सुष्ठु, शोभनं ब्रह्म में रमण करने वाला ही सुर है। अनात्माभिमानी होकर जीव असुर हो जाता है। देवासुर-संग्राम में असुरों द्वारा पराजित होने पर देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् ने प्रकट होकर उनको विजयी बनाया, तथापि देवताओं को अभिमान हो गया; अतः भगवान् यक्ष रूप में प्रकट हुए और उनके अभिमान का नाश किया। भक्त प्रह्लाद कहते हैं—

न केवलं में भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥

(७.७.८)

परमात्मा ही संसार के सम्पूर्ण बलों का मूल है, अतः वही विजय है। देवासुर-संग्राम में देवताओं को विजयी बनानेवाले भगवान् ही विजय है। विजय-स्वरूप भगवान् ही जीवात्मा के सखा हैं, भगवान् विजय जिसके सखा हों वह 'विजयसख' है, अथवा विजय ही सखावत् है जिसका वह भगवान् ही 'विजयसख' हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २.१.१)। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३.९.२८) इत्यादि ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ ही 'विजयसख' हैं, भगवान् की सखियाँ हैं। जैसे महासमुद्र एवं उसकी तरङ्गों का अथवा पति-पत्नी का तादात्म्य, अभेद सम्बन्ध हो जाता है वैसे ही परात्पर परब्रह्म और श्रुतियों का तादात्म्य, अभेद सम्बन्ध है।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

(श्रीरामचरितमानस, बाल० १८)

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ।

(रघुवंश १.१)

सीता और राम का, पार्वती और परमेश्वर का, वाक् और अर्थ का अथवा समुद्र और तरङ्गों का जो तादात्म्य अभेद सम्बन्ध है वही तादात्म्य अभेद सम्बन्ध

श्रुतियों और परब्रह्म का भी है। महासमुद्र-स्थानीय परब्रह्म की श्रुतियाँ विभिन्न लहरियाँ हैं। श्रुतियों का मुख्य तात्पर्य परात्पर परब्रह्म में ही है।

विजयसखसखीनां श्रुतीनां तत्-प्रसंगः परमात्मनि तात्पर्यम्।
तस्मिन् परमात्मनि प्रसंगः महातात्पर्य गीयताम्।

अर्थात् विजयसख परात्पर परब्रह्म में ही श्रुतियों का मुख्य तात्पर्य है अतः उनका गान करना उचित है।

गोपाङ्गनारूप श्रुतियाँ कह रही हैं, 'हे षडङ्घ्रि! हे जीवात्मन्! तुम प्रकृति का गान मत करो'। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, न वह जगत् का कारण है। हे जीवात्मन्! तुम विजयसख परात्पर परब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का, विजयसख परब्रह्म की सखियों का ही गान करो, उनके गान से ही तुम्हारा अशेष कल्याण होगा।

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः।

अर्थात्

क्षपितकुचरुः, कुत्सितं रौतीति कुचःरु।

अथवा

कुत्सितं अहंकाराद्यात्मनः चरति इति कुचरुः।

अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान, अहङ्कारादि में लिप्त होकर कुत्सित चरण करता है। 'कुचारुः यतः स्यात् जातः स कुचरुजः' कुत्सित रूप में अहङ्कारादि रूप में पर्याय को प्राप्त होने वाला अज्ञान ही 'कुचरू' है, इस 'कुचरू' अज्ञान से उत्पन्न होने वाला संसार ही 'कुचरुज' है। 'कुचरुजः' संसारः येन क्षपितः सः'—कुचरुज संसार को जिसने बाधित कर दिया हो। श्रुतियाँ कह रही हैं, हे जीवात्मन्! तू विजयसख को सखियों के, श्रुतियों के उत्तम प्रसंग का गान करेगा तो क्षपितकुचरुज हो जायगा। तेरे लिए संसार नाशित-बाधित हो जायगा और तू स्वस्वरूप, अनन्त, अखण्ड, स्वस्वरूप को प्राप्त हो जायगा।

उक्त श्लोक की आध्यात्मिक पक्ष में भी संगति है। 'किमिह बहूनां षडङ्घ्रे गायसि त्वं' हे षडङ्घ्रि, हे जीवात्मन्! तू प्रकृति का गान क्यों करता है? 'ऊनां यस्मात् अपदां प्रकृतिं', 'ऊनां' अर्थात् 'न्यूना', न्यूना अर्थात् अपरा प्रकृति।

भूमिरापोऽनलो वायुः सं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(गीता ७.४)

अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये सब अपञ्चीकृत प्रकृति कोटि में आते हैं। महत्-तत्त्व, अहंतत्त्व भी प्रकृति कोटि में है—इनमें प्रकृति-

विकृति दोनों हैं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, उसमें विकृति नहीं होती। अतः श्रुतियाँ कह रही हैं, 'तत् एतत् न युक्तम् उद्गीयते नः अग्रतः' हे षडङ्घ्रि! हे जीवात्मन्! तू जो हम गोपाङ्गनारूप श्रुतियों के सम्मुख ही श्रुतियों का विपरीत अर्थ करते हुए बहूनां, न्यूना अपार प्रकृति के विशिष्ट महत्त्व का गान कर रहा है, वह उचित नहीं है, क्योंकि

अगृहाणां वासुदेव एव गृहं तात्पर्यविषयः।
यासाम् ताः अगृहास्तासाम् अगृहाणाम्॥

'गृह' अर्थात् आश्रय, तात्पर्य, प्रतिपादन का गोचर। श्रुतियों के प्रति-पादन का गोचर-महातात्पर्य का विषय स्वप्रकाश परब्रह्म वासुदेव ही हैं। श्रुति है— 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १.२.१५) सब वेद अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश, परमात्मा का ही प्रतिपादन करते हैं। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' (गीता १५.१५) सब वेदों के द्वारा मैं सर्वात्मा ही एकमात्र वेद्य हूँ। ऋग्वेद कहता है कि 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' अर्थात् ऋचाओं के महातात्पर्य विषयीभूत स्वप्रकाश ब्रह्म को न जानकर केवल सम्पूर्ण ऋचाओं को कण्ठस्थ भी कर ले तो उससे क्या लाभ? अतः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० २.३.५) श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा उस अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परब्रह्म का साक्षात्कार करो। 'सततं कीर्तयन्तो मां नित्ययुक्ता उपासते' (गीता ९.१४) जो सदा भगवान् का कीर्तन करते हुए उनकी उपासना करते हैं वे उनको प्राप्त कर लेते हैं।

'विजयसख, विशेषेण: जयो यस्य स विजयः परमात्मा' सदा जय को प्राप्त होने वाले विजय ही परमात्मा हैं। भगवान्-स्मरण से सदा ही विजय होती है।

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥

अर्थात् जिसके हृदय में इन्दीवरश्याम विराजमान हैं वह सदा ही लाभ और जय को प्राप्त होता है। 'स एव सखा यस्य सोऽयं विजयसखः' तत् सम्बुद्धौ हे विजयसख, विजय ही जिसका सखा है वह विजयसख, परमात्मा जीवात्मा का परम अभिन्न सखा है। गोपाङ्गनारूप श्रुतियाँ कह रही हैं—हे विजयसख! हे जीवात्मन्! परमात्मा के गुण-गान में सर्वदा संलग्न रहना ही तेरे लिए श्रेयस्कर है।

'विजयसखसखीनां', श्रुतियाँ ही विजयसख परमात्मा की सखियाँ हैं; तात्पर्य यह कि परमात्मा का बोध कराने वाली श्रुतियाँ ही उनकी सखियाँ हैं। इनमें कोई अन्यपूर्विका हैं तो कोई अनन्यपूर्विका हैं। अन्यपूर्विका श्रुतियाँ

अवान्तर तात्पर्य रूप में इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि का प्रतिपादन करती हुई महातात्पर्य-विषयक परब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। यही भगवान् की परकीया नायिकाएँ कही जाती हैं। वस्तुतः ऐसी श्रुतियाँ भी इन्द्र, वरुण, कुबेर आदिकों को स्वकाया होती हुई भी मूलतः भगवद्-सम्बन्धिनी ही हैं, तथापि उनमें भगवान् के प्रति परकीयत्व की आपाततः प्रतीति होती है। अनन्य-पूर्विका श्रुतियाँ साक्षात् परब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; (तै० उ०२.१.१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ०उ०३.९.२८) जैसी श्रुतियाँ ही अनन्य-पूर्विका हैं। उक्त दोनों प्रकार की श्रुतियाँ विजयसख परमात्मा की सखियाँ हैं।

'विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः', प्रत्येक वाक्य का सम्बन्ध-संग अपने विषय के साथ होता है। प्रकृष्टः सङ्गः प्रसङ्गः, विशेष संग ही 'प्रसंग' है। तात्पर्य यह है कि 'नहि वाक्यार्थो वाच्यार्थ एव भवति।' वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ नहीं होता। अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना वृत्ति के आधार पर अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। यथार्थ में वाक्यार्थ का बोध तात्पर्यरूपा वृत्ति द्वारा ही होता है; यही प्रकृष्ट संग है। अतः 'विजयसख सखीनां प्रसंगः तात्पर्य-निरूपणेन ब्रह्मणि तासां बोधः कर्तव्यः' तात्पर्य का निरूपण कर श्रुतियों का परब्रह्म में समन्वय निरूपित करना ही प्रकृष्ट संग है। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० उ० १.८.१) इस श्रुति से आकाश का प्रतिपादन परब्रह्म में ही होता है। इसी तरह 'प्राणस्य प्राणः', 'चक्षुषश्चक्षुः', 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि वाक्यों में 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' (ब्र० सू० १.४.१२) इस वाक्य के अनुसार प्राणादि श्रुति का भी समन्वय परब्रह्म में ही होता है। अस्तु, विजयसख, परमात्मा की परकीया एवं स्वकीया सखियाँ, अन्यपूर्विका एवं अनन्यपूर्विका श्रुतियाँ, सबका प्रसंग समन्वय, तात्पर्य-विषय स्वप्रकाश, परात्पर परब्रह्म ही है। 'तत् गीयताम्' उसका ही गान करो। उसके गान एवं श्रवण-मनन से तुम 'क्षपितकुचरुजः' क्षपितकुच-रुज हो जाओगे। संसार अज्ञान का ही कार्य है, अज्ञान ही अहंकाराद्यात्मना परिणत कार्य-कारण-संघात संसार बन जाता है। ब्रह्म में श्रुतियों का समन्वय करने से यह संसार बाधित, नाशित हो जाता है। 'नेह नानास्ति किञ्चन।' (बृ० उ० ४.४.१९) 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रिण रूपाणीत्येव सत्यम् (छा० ६.३.४) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अज्ञान एवं तत् कार्यात्मक विश्व-प्रपञ्च बाधित हो जाता है।

'इष्टाः सम्मानिताः सत्यः श्रुतयः' इस तरह सम्मानित होकर श्रुतियाँ प्रसन्न होंगी। 'ब्रह्मं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद (बृ० २.४.६) अर्थात्, ब्रह्मज्ञ उसे परास्त कर देता है जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न जानता है।

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड ७)

सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च, अणु-अणु, परमाणु-परमाणु ब्रह्ममय है; विश्व प्रपञ्च की इस ब्रह्म-तादात्म्यता के ज्ञान से उसका कण-कण प्राणी का हितकारी हो जाता है; उसके कल्याण में अद्भुत योग-दानी बन जाता है। इस तरह सम्मानित श्रुतियाँ 'इष्टं कल्पयन्ति' तुम्हारा कल्याण करेंगी।

'क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः।' श्रुति का कथन है—'तरति शोकमात्मवित् (छा० ७.१.३) आत्मचेता शोक को तर जाता है। 'शोक' का तात्पर्य शोकोपलक्षित संसारः, संसार दुःखमय है। 'शोकस्थान सहस्राणि भयस्थान-शतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।' (महाभारत, स्वर्गा० ५.६२) अर्थात् संसार में शोक और भय के अनेकानेक कारण प्रतिक्षण आते रहते हैं। उनमें अज्ञ प्राणी ही लिप्त होता है; पण्डित, ज्ञानी उनसे विरत रहा है। 'वृश्च्यते प्रतिक्षणं कालासिना छिद्यते इत वृक्षः' काल के द्वारा प्रतिक्षण छिद्यमान ही वृक्ष है; संसार एकवृक्ष है जो काल के द्वारा प्रतिक्षण छिद्यमान हो रहा है।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखयन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

अर्थात्, प्राणी संसार में जितने स्नेह-सम्बन्ध जोड़ते जाता है उतने ही शोक के खूँटे अपने हृदय में गाड़ता जाता है। 'अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः' (वैराग्यशतक) चिरकाल तक गृहीत रहकर भी विषय अवश्य ही चले जाते हैं, तदपि एक बार गृहीत हो जाने पर ग्रहणकर्ता प्राणी के हृदय में कील गाड़कर ही जाते हैं। यदि प्राणी स्वयं ही विषयों का त्याग कर दे तो वह अत्यन्त आनन्द का कारण बन जाता है; सर्वातिशय त्याग अनन्त सुख का कारण है। भगवद्-रहस्यज्ञानानभिज्ञ को ही शोक-मोह दुःख देते हैं, किन्तु भगवद्-तत्त्वज्ञ, भगवद्-स्वरूप का मनन करने वाला, भगवत्-स्वरूप में रमण करने वाला शोक-मोह से परे हो जाता है। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ० २.३.१) 'अत्र ब्रह्म समश्नुते (बृहदा० ४.४.७) ऐसा व्यक्ति स्वयं जीवन्मुक्त होकर अन्य को भी मुक्त करता है। श्रुतियों का परात्पर परब्रह्म में तात्पर्य-निरूपणकर समन्वय करने का फल इस जीवन में प्राप्त होता है। वह प्राणी परात्पर परब्रह्म का अनुभव करता हुआ विगत शोक-मोह होकर अनन्त आनन्द का अनुभव करने लगता है।

मज्जन फल पेखिअ ततकाला।
काक होहिं पिक बकउ मराला॥

(श्रीरामचरितमानस, बाल०)

अस्तु, इस प्रकार भगवद्-प्रसंग-वर्णन श्रुतियों में परात्पर-परब्रह्म का प्रतिपादन करने से अविद्या कृत प्रपञ्च-कार्यात्मकता का बाध और अखण्ड, स्वप्रकाश, विश्वकारण परब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है। 'इष्टाः त्वया सम्मानिताः अभीष्टं फलं कल्पयन्ति' इस प्रकार सम्मानित हुई श्रुतियाँ प्राणी के अभीष्ट फल का सम्पादन करती हैं।

'यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्', 'यदूनामधिपतिं यत् ऊनां मायां गायसि तन्नोचितं किन्तु अधिपतिं गायस्व' अर्थात् ऊना, न्यूना माया का गान करना उचित नहीं है, अतः तू मायापति, यदुपति का ही गान कर, अथवा मात्र माया का ही नहीं, उसके साथ-ही-साथ मायापति का भी गान कर। 'गौरतेजः परित्यज्य श्यामतेजः समर्चयेत्। जपेद् वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे।' जो गौर तेज का परित्याग कर केवल श्याम तेज की पूजा-अर्चा करता है, उसकी आराधना अधूरी रह जाती है और वह स्वयं पातकी हो जाता है।

'अधिपतिम्' का एक अर्थ सम्बोधन रूप में भी किया जा सकता है। 'अधिपतौ मा प्रमा यस्य स अधिपतिमः' माया शब्द में 'मा' अक्षर प्रमा का द्योतक है; प्रमा का यथार्थ-ज्ञान है जिसको वह माया के अधिपति। तात्पर्य है कि हे षडङ्घ्रि! हे जीव! तू माया के अधिपति सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर, 'गृहाण' केवल उन्हीं का ज्ञान कर; भगवान् के स्वरूप का ग्रहण एवं गुण-गान ही परम पुरुषार्थ है, कर्तव्य है।

'बहु षडङ्घ्रे' में प्रयुक्त बहु शब्द का 'षडङ्घ्रे' शब्द के विशेषण रूप में भी प्रयोग हो सकता है। 'बहवः षडङ्घ्रयो यस्य स बहुषडङ्घ्रिः। तत् सम्बुद्धौ हे बहुषडङ्घ्रे! उद्धव ने प्रसाद-रूप में प्राप्त श्रीकृष्ण के वस्त्रालंकारों को ही धारण कर रखा है, भगवान् श्रीकृष्ण की आपादलम्बिनी वनमाला एवं लोकोत्तर दिव्य सुगन्धयुक्त अम्लान पंकजमाला भी उद्धव ने धारण कर रखी है। इन मालाओं के दिव्य सौगन्ध्य से आकृष्ट हो भ्रमरों की मण्डली ही उनपर मँडरा रही है। गोपाङ्गनाएँ उनके प्रति अपने विभिन्न भावों को प्रकट करती हैं :

६

गोप्युवाच

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तदुरापाः।
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥

(भाग० १०.४७.१५)

अर्थात्, गोपाङ्गना-जन कह रही हैं—हे भ्रमर! वे हमारे लिए व्याकुल हो रहे हैं, ऐसा तू क्यों कह रहा है? उनकी कपटभरी मुस्कान और भौंहों के संकेत से वशीभूत हो कौन स्त्री उनके पास बरबस खिंची चली नहीं आती! औरों की तो बात ही क्या, जब स्वयं चञ्चला लक्ष्मी भी उनके चरणारविन्दों मे अचञ्चल बनकर रह गयी हैं तब भी तू इनके पास जाकर कहना कि 'उत्तम श्लोक' नाम से ही तुम्हारी ख्याति है; इस ख्याति की सार्थकता तो इसी में है अब तुम हम दीनों पर दया करो; अन्यथा तुम्हारी यह ख्याति ही गलत सिद्ध हो जायगी।

मधुर-गुञ्जारव करता हुआ मधुप मानो कह रहा है—हे राधारानी! हे नित्य-निकुञ्जेश्वरी! आप ही श्रीकृष्णचन्द्र की प्राणेश्वरी हैं। वस्तुतः उन्होंने हमको आपका मान मनाने के लिए ही भेजा है। वे आपके विप्रलम्भ-जन्य तीव्र-ताप से अत्यन्त सन्तप्त हैं। आप अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा की जलनिधि हैं। आपके जैसा लोकोत्तर कल्याण-गुण-गण अन्यत्र नहीं है। उनकी अपनी मथुरावासिनी पटरानियों में वैसा स्नेह नहीं है; उनके अन्तरात्मा, अन्तःकरण के, प्राणों के सर्वस्व आप ही हो; अतः अब आप प्रसन्न हो जायँ। भ्रमर के इस कथन का उत्तर देती हुई राधारानी कह रही हैं—'दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः' हे मधुप! द्यूलोक, भूलोक और पाताललोक में भी ऐसी कौन-सी स्त्री है जो उनपर आकृष्ट न होती हो। जब कालिय-नाग का दमन करने वे यमुना-जल में घुसे तब वहाँ की निवासिनी नाग-पत्नियाँ उनके अद्‌भुत सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयी थीं। वे 'नटवरवपुः' हैं। 'नटेभ्यो वरेभ्योऽपि वरं वपुर्यस्य' नाट्यशाला में प्रवेश करने के पूर्व नट अत्यन्त श्रृंगार करता है परन्तु

श्रीकृष्णचन्द्र तो 'नटेभ्य नटराजेभ्यो नटराजराजेभ्योऽपि वरं वपुः यस्य' हैं, नटराज और नटराजराजों से भी श्रेष्ठ है वपु जिनका ऐसे नटवर हैं। 'नटराज' नाम से सामान्यतः भगवान् शंकर ही आख्यात हैं। उनका ताण्डव-नृत्य भी सर्वविख्यात है। राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी भगवती षोडशी ललिता पराम्बा को रिझाने के लिए ही भूत-भावन, सदाशिव, भगवान् शंकर ताण्डव-नृत्य करते हैं। उनके इस नृत्य में सभी देवगण पधारते हैं। स्वयं भगवान् शंकर ताण्डव-नृत्य करते हैं। उनके इस नृत्य में सभी देवगण पधारते हैं। स्वयं भगवान् विष्णु मृदंग बजाते हैं। तब भी नाग की फणों पर नृत्य करने वाले एक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। अतः वे सम्पूर्ण नट, नटराज, नटराजराजों से भी प्रकृष्ट हैं।

'देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः' (१०.२१.१२) श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्र-निर्गत वेणुगीत का रसास्वादन कर, उनके स्वरूप-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने-अपने देवता पतियों के साथ विमानों पर चलने वाली देवियों का भी धैर्य भंग हो गया। 'स्मरनुन्नसाराः' स्मर ही कामदेव हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कामदेव का वर्णन है, 'स्मरोवाव आकाशाद् भूयः' (छा० ७.१३.१) आकाश से भी उत्कृष्ट है स्मर! उत्कण्ठापूर्वक संस्मरण ही स्मर है; स्मर के कारण सहज ही धैर्य भंग हो जाता है। जीवमात्र ही गोपाङ्गनाएँ हैं; जैसे प्रतिबिम्ब बिम्ब के अथवा घटाकाश महाकाश के अधीन है वैसे ही जीव भी परमात्मा के अधीन है। जीव की स्थिति, गति एवं प्रवृत्ति परमात्मा के ही अधीन है। अतः जीव का भगवान् को प्राप्त करने के लिए विह्वल हो जाना जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्ज का ही फल है।

नीकी हूँ फीकी लागत, बिनु अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्धबिच, रस-सिंगार न सुहात॥

'ताः संस्कृता अपि स्त्रियः भगवतो न दुरापाः' वे दिव्य स्त्रियाँ भी श्रीकृष्ण के लिए दुराप नहीं हैं, अपितु वे ही उनके लिए भी दुराप हैं; फिर हम तो ग्राम्या हैं, हमारी चाह उनको कैसे हो सकती है? यह दैन्याभिव्यञ्जना है।

श्रीकृष्ण परमात्मा के प्रति गोपियों में रागानुका प्रीति है। स्वभावतः स्त्रियों में ही प्रीति अधिक होती है। पुरुष में अग्नि और स्त्री में सोम रहता है। 'अग्निसोमात्मकं जगत्' सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोममय है। अग्नि कठोर एवं रूक्ष है, सोम कोमल एवं सरस है; दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। कोमल एवं सरस होने के कारण स्त्री में स्नेह-भाव का आधिक्य है। अतः माता को स्नेहसंयुक्त स्वश्रेष्ठ पद प्राप्त होता है। शंकराचार्यजी ने तो भगवान् श्रीकृष्ण को 'माँ' ही कहा है।

मायाहस्तेऽर्पयित्वा मरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं माम्,
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयम्,
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किन्नु मूलस्य शान्तिम्॥

अर्थात् हे कृष्ण-नामवाली माँ! मैं तुम्हारा मूल में उत्पन्न ऐसा कुपुत्र हूँ जिसको तुमने मायारूप धाय को भरण-पोषण के लिए सौंप दिया तथा स्वयं उदासीन हों गयी। इस बात को भी बहुत दिन हो गये। अरे! तू तो सर्वज्ञा है, क्या तू कभी मूल की शान्ति कर मेरा मुँह नहीं देखेगी? करुणामयी माँ! तू तो करुणा की एकमात्र अधिष्ठात्री है। शंकराचार्य और भी कहते हैं—'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' (देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र २) इन सबका अभिप्राय यही है कि स्त्रियों में प्रेमभाव ही विशेष होता है। भक्ति प्रेम ही है। स्त्रियाँ यहाँ उपलक्षण हैं; यथार्थतः जीवमात्र ही स्त्री है; केवल श्रीकृष्ण परमात्मा ही पुरुष है। 'पारतन्त्र्यं स्त्रीत्वम्, स्वातन्त्र्यं पुरुषत्वम्' केवल श्रीकृष्ण परमात्मा ही स्वतन्त्र हैं; जीव-मात्र की स्थिति, गति एवं प्रवृत्ति परमात्मा पुरुष के अधीन है। अतः जीवमात्र स्त्री है।

परबस जीव स्वबस भगवंता।
जीव अनेक एक श्रीकंता॥

(श्रीरामचरितमानस)

यह अनुभूति ही गोपाङ्गनाभाव है। 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्' (भाग० ९.४.६८) साधु भगवान् के हृदय में और भगवान् साधु के हृदय में निवास करते हैं। 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' (९.४.६८)। सन्त भगवान् से भिन्न कुछ नहीं जानते और भगवान् सन्तों को छोड़कर कुछ नहीं जानते। 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा (९.४.६६) वे भक्त मुझको उसी तरह वश में कर लेते हैं जैसे सती अपने सत्पति के अनुकूल आचरण करती हुई उसको अपने वश में कर लेती है। कबीर जैसे निर्गुणवादी भक्त भी भावावेश में 'साँई' और 'सेज' का गान कर उठते हैं—

साँई बेदरदी सुध न लिया, तड़पत रैन सिरानी।

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।

अर्थात् जगत् में ऐसा कोई है ही नहीं जो राम का अनुव्रत न हो। 'प्राण-के-प्राण, जीव-के-जीव, सुख-के-सुख राम!' जीवमात्र को अपने प्राणों में ही सर्वाधिक प्रेम होता है। अत: जीवमात्र राम का अनुव्रत है। राम का संयोग ही विश्व का सुखदाता है। 'अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः'। (अयोध्या का० ५९.४)। महाराज दशरथ से सुमन्त कह रहे हैं कि राम के वियोग में वृक्ष म्लान हो गये हैं और 'उपतप्तोदका नद्यः (५९.५) नदियों का जल तप्त हो गया है।

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्द-गीत-
मावर्तलक्षित-मनोभवभग्न-वेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

(१९.२१.१५)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के वेणुनाद को सुनकर नदियों में भँवरयुक्त तरंगें उठीं, अत: उनकी सहज स्वाभाविक धाराएँ रुक गयीं। नदियों ने भँवररूप अपने हाथों से भगवद्-चरणारविन्दों को आलिङ्गित करते हुए उन पर कमल-पुष्प चढ़ाये।

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥

(१०.२१.१७)

श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द में लगा हुआ कुंकुम जो वृन्दावन की दूर्वा पर लग जाता है उसको वनवासिनी पुलिन्दी, किरातिनीजन अपने उरोजों पर लगाकर भगवत्-सम्मिलन की आनन्दानुभूति करती हैं। तात्पर्य कि भगवत्ता की परिभाषा यही है कि निकृष्टतम भी उससे प्रेम करे। निकष्टतम हो अथवा सर्वोत्तम, सबके प्रेम का आस्पद होना ही भगवत्ता है। कपट, रुचि, हास, भ्रू और विजृम्भा ये पाँचों ही भगवान् की आकर्षण नीति हैं। भगवान् का कपट-पूर्ण हास ही माया है, माया से ही उन्माद होता है। भ्रूपरमेष्ठी ब्रह्मा का धाम सत्यलोक है। जैसे प्रेमी के हास और भ्रू-विलास से रुचि उद्भूत होती है वैसे ही भगवद्-हास एवं भ्रू-विलास से भगवद्-चरणारविन्दों में रुचि उद्भूत होती है। यथार्थ रुचि, दृढ़ इच्छा के हो जाने पर अवश्य ही भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त होता है। 'को न मुच्येत बन्धनात्' दृढ़ रुचि हो जाने पर कौन बन्धन-मुक्त नहीं

हो जाता? एक बार भगवान् से नाता जुड़ जाय तो फिर वह कदापि, कथमपि नहीं छूट सकता, यही उनका कपट है।

इन श्लोकों में लौकिक दृष्टान्त स्त्री-पुमान् के काम-भाव का होते हुए भी मूल उद्देश्य सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार-रूप में प्रकट श्रीकृष्ण परमात्मा में ही है। लक्ष्मीवाला उदाहरण लौकिक नहीं है; यह अलौकिक चमत्कार है, यही भगवान् की भगवत्ता है क्योंकि लक्ष्मी स्वयं ऐश्वर्य है। अत: जिसका भजन स्वयं लक्ष्मी करे वह, अवश्य ही सर्वोच्च ऐश्वर्य है।

'अपि च कृष्णपक्षे ह्युत्तमलोकशब्द:' दीनवत्सल ही उत्तमश्लोक है। गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, यद्यपि सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी स्वयं ही उनका भजन करती हैं, उनके वश में हैं, तथापि उनका उत्तमश्लोक आख्यान तभी शोभनीय होगा जब वे गरीब-निवाज भी हों। अपना 'दीनवत्सल' नाम सफल करने के लिए भी उनको हम लोगों पर दया करनी चाहिए। इसमें भी तो उन्हीं का स्वार्थ है; यदि हम दीन न होतीं तो वे दीनवत्सल जैसे उत्तमश्लोक शब्द से क्योंकर आख्यात होते हैं। यदि वे हमारे बिना रह सकते हैं तो हम भी उनके बिना रह लेंगी। 'निस्पृहस्य तृणं जगत्' निस्पृह व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण जगत् तृणवत् है। यथार्थ में यह राधारानी का उज्जल्प है। अपने स्वामी का छल-वर्णन कर अपनी गर्व-गर्भित ईर्ष्या को प्रकट करना ही उज्जल्प है। गोपाङ्गनाएँ उपलक्षण हैं, जीव ही स्र्व-निस्पृह हो श्रीकृष्ण परमात्मा का भजन करे। भगवान् उत्तमश्लोक हैं, उनका यश दिग्दिगन्त में फैला हुआ है।

भक्त हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥

अत: जीवमात्र का सदा-सर्वदा रामचरित-सर में ही निमग्न रहना श्रेयस्कर है, परम कर्तव्य है।

जो किय प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

भगवती शारदा का प्रयोग प्राकृत-जनों के गुण-गान में नहीं करना चाहिए। जिसके द्वारा प्रशंसा की जाय वह 'श्लोक' है। भगवान् ही एकमात्र सर्व-प्रशंसनीय हैं। सौशिल्य ही उत्तम-श्लोक की कसौटी है, महत्ता का मूल, दीनों पर प्यार ही सौशिल्य है।

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान॥

राघवेन्द्र भगवान् रामचन्द्र ने केवट, किरात यहाँ तक कि वानर, भालुओं को भी अपना सखा बना लिया; अपनी महत्ता, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता को भुलाकर

निम्न श्रेणी के दीन-जनों को भी प्रेमपूर्वक अपना लेना ही भगवद्-सौशिल्य है। अत: गोपाङ्गनाजन कहती हैं कि जो उत्तम-श्लोक है, अकारण करुणालय हैं, अशरण-शरण एवं दीनवत्सल हैं उनको हम दीनजनों पर भी दया करनी चाहिए। यह भक्त का दैन्य है।

मैं सेवक रघुपति पति मोरे।
अस अभिमान जाइ जिन भोरे॥

यह अभिमान सात्त्विक है, परम वांछनीय है। जाति, कुल, विद्या, धन आदि का अहङ्कार तामसिक एवं निन्दनीय है; अभिमानी का नाश अवश्य ही होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गी! वे लोग कृपण होते हैं जो अक्षर परमात्मा को जाने बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने अपने स्रष्टा, सर्वात्मा परमेश्वर के लिए किञ्चित्मात्र धन, शरीर अथवा समय का उपयोग नहीं किया, अर्थार्थी भी दीन-कृपण है।

रे रे चातक सावधान मनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्।
अम्भोदाबहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः॥

अर्थात्, हे चातक! एक क्षण के लिए सावधान होकर मेरी बात सुन; आकाश में बहुत से बादल आते हैं परन्तु सब बरसते नहीं। 'गर्जन्ति केचिद् वृथा' ऐसे भी अनेक बादल होते हैं जो केवल गरजते हैं, बरसते नहीं; जल-युक्त बादल बहुत कम होते हैं, तात्पर्य यह कि बरसने वाले बादल जो अन्य को कुछ दे सकने की सामर्थ्य रखते हैं, बहुत कम ही होते हैं। 'यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः' तू प्रत्येक बादल को देखकर 'पीहू-पीहू' की दीन पुकार लगाने लगता है; प्रत्येक बादल के प्रति तू ऐसे दैन्य-वचन क्यों बोलने लगता है? हम दीनों के प्रति दयावान् होकर, दीन-वत्सल होकर ही भगवान् का उत्तम-श्लोक नाम सार्थक हो सकेगा।

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(भाग० ११.२०.३४)

भगवान् के अनन्यभक्त सर्व-निस्पृह होते हैं।

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौ निर्वाण।

वल्लभाचार्यजी कहते हैं, भगवान् के विरह को सह लेना, तापानुभव करना ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है। 'सङ्गम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य।' भगवान् प्रसन्न होकर वर दे रहे हैं; संगम अथवा विरह, दोनों में से एक कोई भक्त माँग ले। भक्त कहता है—हे प्रभु! विरह ही दे दो; क्योंकि

संगम में प्रभु-दर्शन स्थान-विशेष पर, समय-विशेष पर ही सम्भव हो सकेगा परन्तु वियोग में उनके दर्शन यत्र-तत्र-सर्वत्र, सदा-सर्वदा ही होते रहेंगे। तथापि ऐसे महत्त्वपूर्ण विरह का अनुभव भी सम्मिलन-सुख-रसास्वाद के अनन्तर ही सम्भव है। सर्व-दयामय भगवान् मोक्ष एवं धन की इच्छा से भजनेवालों की भी, आर्त प्राणी की भी इच्छा-पूर्ति करते हैं परन्तु सर्व-निस्पृह को ही स्वात्म-दान करते हैं। तापानुभवी तो कथा भी नहीं सुनते; क्योंकि कथा-श्रवण भी एक प्रकार से मानसिक संयोग ही है। वेदान्त के उत्तराधिकारी के लिए 'तत्त्वमसि' वाक्य ही, सर्वांग-अनुभूति ही पारमात्म्य-साक्ष्य है; परन्तु जो अभी उक्तानुभूति का अधिकारी नहीं है उसको वेद-पाठ, उपक्रमादि षड्विध लिंग से ऋचाओं का तात्पर्य निर्धारण आदि अनेक परिश्रमपूर्ण क्रियाओं को करना अनिवार्य है। कथा का उत्तम अधिकारी कृष्ण-नाम सुनते ही साक्षात्कार कर लेता है। अनादि काल से ही जीव परमात्मा से विमुक्त है तथापि संसार-माया में फँसा हुआ वह उस विरह-जन्य तापानुभव में असमर्थ रहता है। इस ताप का अनुभव ही राधारानी का मान है; यह प्रेम की अत्यन्त उच्च दशा है।

अनेक अर्थार्थी लक्ष्मी-प्राप्ति-हेतु लक्ष्मीकान्त का भजन करते हैं। स्वार्थ-हेतु कुब्जा ने भी लक्ष्मीकान्त को भजा; किसी भी प्रकार के स्वार्थपूर्ति हेतु किये गये भजन का वह महत्त्व नहीं जो तत्-सुख-सुखित्वभाव-प्रधान भक्ति का है। श्रीशुकदेवजी महाराज ने कुब्जा को भी 'दुर्भगा' कहा है; क्योंकि उसको भी श्रीकृष्ण का संस्पर्श प्राप्त होता था। गोपाङ्गनाओं एवं राधारानी का कृष्ण-संस्पर्श स्व-सुखार्थ न होकर कृष्ण-सुखार्थ भाव से प्रेरित था; यही उनकी महत्ता है। ऐसे सर्व-निस्पृह भक्तों के प्रति भगवान् ऋणी हो जाते हैं, उनके प्रति अपने को ऋणी मानते हैं।

श्रुतिरूपी गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—हे षडङ्घ्रे!, हे जीवात्मन्! तुम प्रधाना-प्रकृति का गान मत करो; अपितु सम्पूर्ण उपनिषदों का, वेदराशि का जो परब्रह्म परमेश्वर समन्वय है उसी का गान करो; ऐसा गान करने से तुम्हारे अज्ञान और तत्कार्यात्मक संसार का बाध हो जायगा।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (पू० मी० १.२.१ आम्नाय-पद-वाच्य वेदराशि, जिसका क्रियार्थ नहीं वह आम्नाय भी निरर्थक है। 'आम्नाय' अर्थात् वेदराशि; वेदशास्त्र हैं; 'शिष्यते हितमुपदिश्यते अनेन इति शास्त्रम्' हित का उपदेश करने वाला ही शास्त्र है। अनिष्ट-परिहार का उपाय ही हित है। घटना-मात्र का वर्णन सारहीन है; शास्त्र में इतिवृत्त-वर्णन निषिद्ध है; शास्त्र का तात्पर्य इष्ट-प्राप्ति के साधन का दिग्दर्शन कराना होता है। 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।' (पू० मी० १.२.७) अर्थवाद की विधि

के साथ एक-वाक्यता द्वारा ही सार्थकता कही गयी है; विधि के संयोग से ही अर्थवाद अर्थवान् होता है। एतावता विध्यर्थ अर्थवाद ही स्तुति ही अर्थवाद का प्रयोजन है। जैसे वस्तु का त्याग आवश्यक है; परन्तु त्याग के लिए भी तद्-वस्तु की निन्दा अनिवार्य है; इन निन्दा-सूचक वचनों को ही 'अर्थवाद' कहा जाता है। उदाहरणत: ब्राह्मण-भाग की विधि में कहा गया है, 'बर्हिषि रजतं न देयम्' यज्ञ में ब्राह्मण को रजत, चाँदी मत दो; चाँदी का दान निषिद्ध है। 'रुद्रो रोदनात्' रोते हुए इन्द्र के आँसू ही चाँदी है। अत: चाँदी का दान करने वाला रोता ही रहेगा; एतावता बर्हिष् यज्ञ में रजत-दान नहीं करना चाहिए।

अर्थवाद से विधि की भी कल्पना होती है और निषेध की भी। विधि-वचनों और निषेध-वचनों के साथ एकवाक्यता होकर अर्थवाद वचन सार्थक होते हैं। श्वेतवायक का आलम्भन 'भूति' कामनावालों को करना चाहिए, इस विधिवचन—वायव्यं की श्वेतमालभेत भूतिकाम:' (तै० सं० २.१.१.१) के साथ अर्थवाद-वचन 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' वायु अत्यन्त क्षिप्रगामी देवता है, अत: वह उतनी ही शीघ्रता से फलप्राप्ति करा देता है—के साथ एक वाक्यता होकर ही विधिवचन का स्तावक होने से अर्थवादवचन सार्थक होता है। कर्म को अर्थवादवचनों एवं मन्त्रों की भी सार्थकता अपेक्षित है। द्रव्य-देवता का स्मरण करा देना ही मन्त्रों का काम है। इस तरह शुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र हो सकते हैं किन्तु वे स्वार्थ में प्रमाण नहीं हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदों का कोई भी वचन स्वार्थ-प्रतिपादन में प्रमाण नहीं। ईश्वर का प्रतिपादन करने वाला वेद भी स्वतन्त्ररूप में प्रमाण नहीं हो सकता है। किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म, तप, यज्ञ, दान आदि कर्म परलोक में सुख के लिए किया जाता है। देहभिन्न आत्मा को कर्ता माने बिना परलोक के लिए कोई कर्म कर नहीं सकता। देह से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ही सारे वेदान्त वचन हैं।

दिवि भुवि च रसायां कास्त्रियस्तद् दुरापा:।

'दिवि भुवि च' अर्थात् किसी भी लोक में। 'क' का अर्थ है 'सुख', 'का: स्त्रिय:' अर्थात् आनन्दघन ब्रह्म-सम्बन्धिनी स्त्रियाँ, श्रुतियाँ । जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के बिना नहीं रह पाती और देह त्याग देती है। वैसे ही श्रुतियाँ भी स्वार्थ के बिना नहीं रह सकतीं, वे सदा-सर्वदा स्वार्थ के साथ ही रहती हैं। शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥

(रघुवंश १.१)

पार्वती-परमेश्वर दिव्य दम्पति और शब्द तथा अर्थ नित्य-सम्बन्धी हैं, वे सदा परस्पर संग रहते हैं। वेद-वाक्य और उनके अर्थ सदा संश्लिष्ट रहते हैं। अतः श्रुतियाँ स्त्रीरूप कही गयी हैं। कुछ श्रुतियाँ केवल सूर्यनारायण में हैं, अन्य कुछ केवल इन्द्र के पास हैं, अतः अनन्त लोकों की ऋचाएँ उनके वेद ही मानी गयी हैं। शब्दानुगम के बिना कोई प्रत्यय नहीं होता। अतः 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३.१०.१.३) वेद अनन्त हैं किन्तु उसकी ११३१ शाखाएँ मानव-शक्य होने से परिगणित हैं। याज्ञवल्क्य के गुरु वैशम्पायन थे; एक बार गुरु-शिष्य में मतभेद हो जाने पर गुरु ने शिष्य को आदेश दिया कि हमारा उपदेश त्याग दो। याज्ञवल्क्य ने वमन कर दिया; याज्ञवल्क्य के कुछ शिष्यों ने तीतर बनकर उस वमन को खा लिया। वेद-विहीन हो याज्ञवल्क्य ने सूर्य भगवान् की उपासना की और शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं को प्राप्त किया। एतावता सिद्ध होता है कि सूर्य भगवान् से प्राप्त की गयी वे १५ शाखाएँ याज्ञवल्क्य के पूर्व तक मृत्युलोक में नहीं थीं। अस्तु, प्रमाणित हो जाता है कि द्युलोक, पाताल-लोक आदि सभी लोकों में श्रुतियाँ हैं। किसी भी श्रुति से कर्ता का, आत्मा का, प्रतिपादन नहीं होता; सभी श्रुतियाँ ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं।

कर्तुस्तद्दुरापाः तत् तस्मात् कारणात् ब्रह्म-
सम्बन्धिन्यः श्रुतयः कर्तुर्जीवस्य प्राप्यत्वेन दुरापाः।

कर्ता जीव है; कर्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति दुराप है। 'कपट-रुचिर-हास-भ्रू-विजृम्भस्य' ही जीव है; फलानुसन्धान ही कपट है; सामान्यतः कर्ता फल की कामना करता है। हास ही माया है। 'भ्रू-विजृभास्य याः स्युः' ब्रह्मलोकान्त मया ही भ्रू-विजृम्भ है; ब्रह्मलोकान्त अर्थात् 'जगत्'। जीव को माया में रुचि होती है। एक भी श्रुति ऐसी नहीं है जो जगत्-कामी, मायाभिमानी, कार्य-कारणाभिमानी जीव का प्रतिपादन करने वाली हो। सभी श्रुतियाँ जीव के वास्तविक अजर-अमर अखण्ड-बोधस्वरूप ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। 'हास-भ्रू-विजृम्भयोः रुचिः यस्य' लोक-लोकान्तर की स्त्रियों के दिव्य हास, भ्रू-विजृम्भ आदि जिसे प्रिय हो ऐसे वासनाओं के कारण स्वान्त-आक्रान्त जीव का प्रतिपादन श्रुतियाँ नहीं करतीं, वे तो केवल ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं।

श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—'चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं काः।' अनन्त ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री भूति, महालक्ष्मी भी उनके चरणों का स्पर्श न पाकर उनके चरण-रज की ही वन्दना करती हैं तब हम बेचारी श्रुतियाँ किस गिनती में हैं? हम भी जाति, गुण, क्रिया-सम्बन्ध के द्वारा उनका स्थापन करने में

असमर्थ हैं। हम लोगों भी केवल लक्षणा के द्वारा, निषेध के द्वारा ही 'नेति-नेति' कहकर ही किसी तरह उनका प्रतिपादन कर लेती हैं। जैसे कोई नवोढा सखियों द्वारा अंगुल्या-निर्देश से सभा में उपस्थित अपने पति का परिचय पूछे जाने पर नेति-नेति कहती रहती है परन्तु अपने पति पर सखियों का अंगुल्या-निर्देश हो जाने पर मौन हो जाती है वैसे ही श्रुतियाँ भी 'नेति-नेति' कहती हुई ब्रह्म को जान लेने पर मौन हो जाती है।

बहुरि वदन विधु अञ्चल ढाकी, पिय तनु चितय भौंह करि बाँकी।
खञ्जन मंजु तिरीछे नयननि, निज पिय कह सिय सैननि॥

तात्पर्य यह है कि श्रुतियाँ सीधे-सीधे साक्षात् परब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करतीं अपितु संकेत द्वारा उनका ज्ञापन करती हैं। 'नेति-नेति' द्वारा निषेध्य वस्तु का निषेध करती हुई अन्य में 'यन्निषेधो न शक्यते' जिसका निषेध शक्य नहीं, उस परब्रह्म परमात्मा का प्रतिपादन करती हैं। 'अतद्व्यावृत्त्या' जिनकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती वही ब्रह्म है। यहाँ शंका की जा सकती है कि वेद सीधे-सीधे ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकते। अत: वे सिद्ध-वस्तु-परक नहीं हो सकते। इस शंका का समाधान करती हुई श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं—'अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्द:' उनका सम्पूर्ण जल्प ही उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के पक्ष में है अर्थात् जीव के कल्याणार्थ ही है, तथापि जीव कृपण है, फलकामी है। अत: जीव के आकर्षण-हेतु ही श्रुतियाँ ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता का प्रतिपादन करती हैं। उससे आकर्षित हो जीव कर्म-काण्ड में प्रवृत्त होता है। कर्म-काण्ड से बुद्धि शुद्ध होती है; बुद्धि के शुद्ध होने पर ही निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन हो सकता है। एतावता सर्व-प्रथम सगुण साकार, तदनन्तर सगुण-निराकार, एवं अन्त में निर्गुण-निराकार का प्रतिपादन होता है। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, कि हे षडङ्घ्रे!, हे जीवात्मन्! तुम इस क्रम से प्रभु को जानो, उसी का गान करो।

७

गोप्युवाच

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्॥

(भाग० १०.४७.१६)

अर्थात्, हे मधुकर! तू मेरे पैरों पर गिरकर सिर मत टेक, मैं जानती हूँ कि तू अनुनय-विनय करने में, क्षमा-याचना करने में बहुत कुशल है। ऐसा लगता है कि रूठे हुए प्रिय का मान मनाने के लिए सन्देशवाहक दूत को कितनी और कैसी चाटुकारिता करनी चाहिए, यह भी तू कृष्ण से ही सीख कर आया है। परन्तु यहाँ तेरी दाल नहीं गलेगी। हमने अपने पति-पुत्र एवं सगे-सम्बन्धियों को श्रीकृष्ण के लिए छोड़ दिया; परन्तु वे इतने अकृतज्ञ हैं, ऐसे निर्मोही हैं कि हमें छोड़कर चलते बने। अब तू ही बता कि ऐसे अकृतज्ञ, निर्मोही के साथ हम सन्धि कैसे कर लें।

भगवती राधारानी की चरण-रज की लालसा से वह मधुप उनके चरणारविन्दों के नीचे प्रविष्ट होना चाह रहा है। राधारानी के चरणारविन्दों से अलंकृत होने के कारण ही वृन्दावन धाम की ऐसी अतुलित महिमा है। एक कथा है—मधुसूदन सरस्वती ने एक पत्र जीव गोस्वामी को लिखा, 'सखी हौं श्याम रंग रँगी।' इसका उत्तर देते हुए जीव गोस्वामी ने लिखा—

अनाराध्य राधापदाम्भोज-युग्मम्,
असंसेव्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असंभाव्य तद्भावगम्भीरचिन्ताम्,
कथं श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः॥

अर्थात् श्रीराधारानी के चरणारविन्दों की आराधना किये बिना, उनके पदाम्बुजों से अलंकृत वृन्दावन का सेवन किये बिना श्याम-सिन्धु के रस का

आस्वादन कैसे सम्भव है ? श्याम-रंग में कैसे रँगा जा सकता है ? इस उत्तर को पाकर मधुसूदन सरस्वती तत्काल ही गौड़देश छोड़कर वृन्दावन-धाम चले गये।

मधुप बार-बार राधारानी के चरणों का स्पर्श कर रहा है। ध्यानावेश में मग्न राधारानी को भासित होता है मानो स्वयं श्रीकृष्ण ही उनके चरण-कमलों को अपने सिर पर धारण कर उनका मान मना रहे हैं। एक तार्किक पण्डित थे; उन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ लिखा है; उस ग्रन्थ का एक श्लोक है—

मानापनोदनविनोदनते गिरीशे
भासेव सङ्कुचितयोरुचितं तदिन्दोः।
भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि
नम्रीभवानि धनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते॥

अर्थात् हे भवानी! आपका मान मनाने के लिए खेल-खेल में ही भगवान् शंकर ज्योंही आपके चरणकमलों में शीश नवाने उद्यत हुए, आपके चरणारविन्द स्वभावतः अतिसङ्कुचित हो गये, क्योंकि स्वामी के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा अतिनिकट हो गया। हे भवानी! हम भ्रमररूप हो आपके चरणारविन्दों में बार-बार विनम्र होते हैं, ताकि संसार में अहर्निश किये गये मेरे पाप नष्ट हो जायँ। इस श्लोक का आध्यात्मिक अर्थ सर्वथा भिन्न है परन्तु वह यहाँ अपेक्षित नहीं। जगद्धर भट्ट अपने गन्थ, 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' में सरस्वती से प्रार्थना कर रहे हैं—

मातः सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां विभवे निवेद्य।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम्॥

(एकादश स्तोत्र, पद २४)

अर्थात् हे सरस्वती! कवि अपनी ही वाणी को सम्बोधित कर रहे हैं। धैर्य-धारण करो, आर्ति ही जिसका विभव है ऐसी दैन्य-युक्त प्रार्थना करते हुए यद्यपि बहुत काल बीत गया है, फिर भी धैर्य धारण करो। भगवान् सदाशिव अवश्य ही प्रसन्न होंगे। चन्द्र-कला, गगनपथगा गंगा और देवी शिवा भी स्त्री होने के नाते तुम्हारा पक्षपात करेंगी।

एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम्।
देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
धन्या करिष्यति न ते निबिडामवज्ञाम्॥ *(वही २५)*

अर्थात् उनके (सदाशिव के) मस्तक पर विराजनेवाली चन्द्रलेखा कुटिला है, गंगा सदा तरङ्गवती है परन्तु नगेन्द्र-कन्या, पार्वती, शिवा दयार्द्र-हृदया हैं, वे अत्यन्त दयावती हैं, कोमल स्वभाववाली हैं, वे तुम्हारी अवज्ञा नहीं करेंगी, वे अवश्य ही तुम्हारी प्रार्थना सुनेंगी।

'गीतगोविन्द' का उल्लेख है—

मम शिरसि मण्डनम् देहि पदपल्लवमुदारम्।

कथा है कि 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव अपने भावावेश में उक्त पद लिख गये परन्तु सावधान होने पर उनको पश्चात्ताप हुआ, अतः वे उस पद को मिटाने के लिए तत्पर हुए। ऐसे समय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके उक्त लेखन को भगवत्-प्रेरित अतः सर्वथा उचित बताया।

ऐसे सब प्रसंगों का अभिप्राय यह बताना है कि शास्त्रों में नायिकात्व की कल्पना की गयी है। यह सब प्रेम की विभिन्न महाभावावस्थाएँ हैं। प्रेम की पराकाष्ठा होने पर जब भक्त भगवान् के बिना नहीं रह पाता, तड़पने लगता है तब भगवान् भी भक्त के बिना नहीं रह पाते। भगवान् भक्त-भक्तिमान् हो जाते हैं। सर्व-गुण-युक्त, सर्वोत्कृष्ट भगवान् भी अपने परम भक्त राधारानी के चरणों को अपने सिर पर धारण करते हैं, यह प्रेम की महिमा है।

'वेद्म्यहं चाटुकारैः', न केवलं पादैः सृज अपितु चाटुकारैः' राधारानी कह रही हैं—हे मधुप! तू केवल पद-रज ही नहीं स्पर्श कर रहा है, अपितु साथ-ही-साथ अपने मधुर गुंजारव से चाटुकारिता भी कर रहा है। मैं तेरे कपट को जानती हूँ। तूने स्वयं मुकुन्द से ही दौत्य-कर्म सीखा है। 'अनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्' मुक्ति को देनेवाला ही मुकुन्द है। जैसे बालक के रोने पर माता उसको खिलौने एवं मिठाई देकर भुलाने का प्रयत्न करती है; फिर भी यदि बालक रोता रहे तो उसको गोद में उठाकर पुचकारती है, ठीक ऐसे ही भगवान् मुक्ति देकर साधक को भुलाना चाहता हैं परन्तु भक्ति नहीं देते; क्योंकि भक्ति देकर वे भक्त के परवश हो जाते हैं। भरतजी कहते हैं—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, पद न चहौ निर्वान।
जनम जनम रति राम पद, वह वरदानि न आन॥

(श्रीरामचरितमानस)

सर्व-निरपेक्ष, अनन्य-भक्त को ही भगवान् अंग-संग देते हैं।

राधारानी कह रही हैं—हे मधुप ! 'अनुनयविदुषस्ते' तुम अनुनय करने में पण्डित हो; तिस पर मुकुन्द के सिखाये-पढ़ाये हुए हो परन्तु मैं तुम्हारे इस कपट को जानती हूँ। मुकुन्द भी कपटी हैं और तुम भी। 'स्वकृत इह

विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका व्यसृजदकृतचेता:' उस छलिया से सन्धि कैसे हो सकती है? वह तो कृतघ्न है। हम व्रजसीमन्तनी जनों ने तो उनके लिए पति, पुत्र, एवं सम्पूर्ण सगे-सम्बन्धियों को त्याग दिया, फिर भी वे हम सबको त्यागकर चले गये।

यथार्थ में गोपाङ्गनाओं में कोई अपत्यवती थी ही नहीं। शृंगार-रस में अपत्यवती नायिका ग्राह्य नहीं है। अपत्यवती गोपाङ्गनाएँ रासलीला में सम्मिलित नहीं हुईं। श्रीकृष्ण के वेणु-नाद से आकृष्ट कुछ अपत्यवती गोपाङ्गनाएँ भी उनकी ओर दौड़ पड़ीं; उनके कुटुम्बियों ने उनको कमरों में बन्द कर दिया। 'अन्तर्गृहगता: काश्चिद् गोप्योऽलब्ध-विनिर्गमा:।' कमरों में बन्द होने के कारण वे बाहर तो न जा सकीं तथापि 'कृष्णं तद्भावनायुक्तादध्युर्मीलितलोचना:' श्रीकृष्ण ध्यान में तन्मय हो गयीं। यथार्थत: रामावतार-काल के दण्डकवनवासी ऋषिगण ही उक्त गोपाङ्गना-स्वरूप में आविर्भूत थे। राघवेन्द्र रामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम थे। अत: उस अवतार-काल में शरीर-संस्पर्श सम्भव नहीं हो सकता था। उन ऋषिगणों ने ही पूर्वाभ्यास के कारण गोपाङ्गना-स्वरूप में कृष्ण-सम्मिलन सुख को प्राप्त किया था। 'दुस्सह-प्रेष्ठ-विरह-तीव्रतापघूताशुभा:' प्रेष्ठ, प्रिय-विरह के दुस्सह तीव्र ताप से उनके जन्म-जन्मान्तरों के पाप-पुञ्ज भस्म हो गये और वे श्रीकृष्ण परमात्मा को प्राप्त हुईं। भगवान् शंकराचार्य 'विष्णुसहस्रनाम' के भाष्य में लिखते हैं।

अतिपातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिवमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावन:॥

(पृ० १८)

अर्थात्, बड़े-से-बड़ा पातकी भी क्षणमात्र के लिए भी भगवद्-स्मरण कर ले तो वह पंक्ति-पावनों को भी पावन करने वाला हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं। 'पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तोहि भाव न काऊ॥' पातकी को भगवत्-भजन में कदापि रुचि नहीं होती।

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥

(गीता ७.१५)

अर्थात् दुष्कृति नराधम प्राणी भगवान् को नहीं भजते; माया के कारण उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है और वे आसुरी-भाव में रहते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:। *(गीता ७.२८)*

जो द्वन्द्व से मुक्त होकर मुझको भजते हैं वे शीघ्र ही बन्धन-मुक्त हो जाते हैं और परमात्म-ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।

अस्तु, वे अपत्यवती गोपाङ्गनाएँ भी शरीर को त्यागकर अन्य गोपाङ्गनाओं के पूर्व ही भगवान् श्याम-सुन्दर के समीप पहुँच गयीं।

'नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।' सामान्यतः श्रृंगार-रस में पतिवाली स्त्रियाँ ग्राह्य नहीं होतीं परन्तु गोकुल-वासिनियों के लिए यह नियम लागू नहीं पड़ता क्योंकि उनका परकीयात्व विशिष्ट उत्कण्ठा-उद्बोधन-हेतु केवल प्रतीति-मात्र है।

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(भाग० १०.३३.३८)

रासलीला में गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण के साथ थीं परन्तु किसी गोप को असूया नहीं हुई; क्योंकि उन्होंने अपनी-अपनी पत्नियों को अपने पास ही पाया। तात्पर्य यह कि मायामय गोपाङ्गनाएँ अपने पतियों के पास थीं परन्तु उनका वास्तविक स्वरूप कृष्ण-संग में था।

'व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्' जिनके लिए हमने पति-पुत्रादि का त्याग किया वे भी हमको छोड़कर चले गये; हमारा तनिक भी ख्याल नहीं किया। अतः ऐसे कृतघ्न से हमारी सन्धि कैसे हो सकती है? नाम तो उनका 'मुकुन्द' है, मुक्ति देने वाला है परन्तु कर्म उनके सब विपरीत हैं। वे प्राणी को अपने में आकृष्ट कर ऐसा बाँधते हैं कि उस बन्धन से मुक्ति मिल ही नहीं पाती। अथवा 'मुकुन्द मुखे कुन्द इव दन्ताः यस्यः' जिसके मुख में कुन्द की भाँति दाँत है। मानो वे व्यंग्य कर रही हैं कि मुख तो उनका इतना सुन्दर है परन्तु वे स्वयं इसके विपरीत हैं। 'सुपुष्पितस्यापि फलं न' नीतिज्ञ पुरुष उस सुपुष्प की तरह है जिसमें फूल तो लगे परन्तु फल न हो। इसी तरह वे भी बात तो मीठी-मीठी करते हैं परन्तु उनके सम्बन्धमात्र से ही हमारी जैसी सर्व-विरहित दशा हो जाती है। अथवा वे 'मुकुन्द' हैं, मृत्यु के बाद मुक्ति देते हैं परन्तु जीवित दशा में दो दुःख ही देते हैं। यह तो वैसा ही है जैसे कोई हाथ का मोदक छोड़कर कालान्तर में किसी महत् फल की आशा करे 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने।' मुक्ति-सुख देह के अनन्तर भावी है किन्तु भक्ति इस देह के रहते हुए ही कृष्ण-ध्यान-जन्य प्रत्येक क्षण अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। श्रीधर स्वामी बड़े वेदान्ती थे; उनका कथन है—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विरहन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

(भाग १०.८७.२१ की श्रीधरी टीका)

अर्थात् जो आपके कथामृत-सिन्धु में विहरण करते हैं उनके लिए चतुर्वर्ग भी तृणवत् है।

स्वयं वेद-स्तुति है—

न परिलषन्ति केचिदवर्गमपीश्वर ते। *(१०.८७.२१)*

अर्थात् हे ईश्वर, आपके ऐसे भी भक्त हैं जो मोक्ष की कामना भी नहीं करते।

चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः। *(१०.८७.२१)*

वे आपके चरित्रामृतरूपी महासमुद्र में अवगाहन करते हुए तीनों ताप से विनिर्मुक्त हो जाते हैं। एक भक्त कहता है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष द्विपरार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिरसाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

अर्थात्, ब्रह्मानन्द को द्वि-परार्ध से गुणा करने पर भी वह द्विपरार्ध संख्यावाला ब्रह्मानन्द भक्ति-रसाम्बुधि के परमाणु की भी समता नहीं कर सकता। ब्रह्मा की आयु दो परार्ध है; उसको गुणित करना अर्थात् अनन्त काल; अनन्त-काल पर्यन्त ब्रह्मानन्द भी भक्ति-रसामृत-सिन्धु में क्षणमात्र के लिए किये गये अवगाहन जन्य सुख के परमाणु की भी तुलना नहीं कर सकता।

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० २.११)

अर्थात् जब तक हृदय में भुक्ति-मुक्ति की चाहरूप पिशाचिनी का अस्तित्व बना हुआ है तब तक भक्ति-जन्य आनन्दप्राप्ति असम्भव है।

उक्त सम्पूर्ण उक्तियों का अभिप्राय यथार्थ समझना चहिए। 'निरतिशयेन यद्-बृहत् तद् ब्रह्म' जो निरतिशय हो जिसकी कोई सीमा न हो वही ब्रह्म है। अतः अनन्त आनन्द ही ब्रह्म है। इस असीम आनन्द ब्रह्म के अनुभव के लिए ही भक्ति अनिवार्य है। भक्ति के माध्यम से ही उस आनन्द का अनुभव सम्भव हो सकता है। जैसे आँखों से न दीखने वाली दूरस्थ वस्तु को दूरवीक्षण-यंत्र से सुगमतापूर्वक देखा जा सकता है वैसे ही भक्ति के माध्यम से अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है। अतः माध्यमरूपिणी भक्ति सर्वातिशयेन महत्त्वपूर्ण है। निसन्देह है कि ब्रह्म निस्सीम है, अनन्त है; उसके साक्षात्कार-हेतु भक्ति अनिवार्य है। अस्तु, व्यङ्ग्य द्वारा माध्यम की अनिवार्यता को ही बताया गया है। भक्तिहीन ज्ञानी भी परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते। अतः तत्त्वदर्शी अमलात्मा परमहंस भी भक्ति की कामना करते

हैं। अद्वैत के महान् आचार्य आद्य शंकराचार्यजी 'नृसिंहतापनीयोपनिषद्' के भाष्य में लिखते हैं—

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।

अर्थात् मुक्तजन भी लीला से विग्रह धारण कर भगवान् को भजते हैं। अन्य प्राणी तो परवश हो कर संसार में आने के लिए बाध्य होते हैं परन्तु मुक्त प्राणी भगवदिच्छया लीला-हेतु अथवा स्वेच्छया भजन-हेतु शरीर धारण करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि मुक्त होने पर भी भगवत्-भजन की कामना क्यों? इसका बहुत ही सुन्दर समाधान भक्त-प्रवर ध्रुव द्वारा की गयी 'नृसिंह-स्तुति' में मिल जाता है—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथा श्रवणेन पा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्,
किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥

(४.९.१०)

अर्थात् हे प्रभो! तनुधारियों को जो सुख आपके ध्यान से और आपके भक्तों की कथा-श्रवण से प्राप्त होता है वह वेदान्त-वेद्य, स्वप्रकाश ब्रह्म में भी नहीं है।

मुक्ति के भी चार प्रकार हैं—सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य। जैसे भगवान् स्वेच्छया लीला से विग्रह धारण कर लेते हैं वैसे ही उक्त चारों प्रकार के मुक्त भक्त भी स्वेच्छया भजन-हेतु विग्रह धारण कर लेते हैं।

वेदान्त-सिद्धान्त है कि जीव मुक्त होकर ईश्वर में लीन हो जाता है। ब्रह्म के दो रूप हैं, एक ब्रह्म और दूसरा ईश्वर।

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो,
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते,
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥

(भाग० १०.३.१९)

अर्थात्, आप ईहावान् और अनीह दोनों हैं; अगुण और अक्रिय भी हैं। वेदान्त और वेद-वरिष्ठ अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति भी निर्गुण, निरीह और निर्विचेष्ट से मानते हैं. इनका समन्वय यही है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, ईश्वर और ब्रह्म। ईश्वर ही उत्पादक, पालक और संहारक है; ब्रह्म अनादि, अगुण, अक्रिय है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

(गीता १३.३३)

अर्थात् जैसे सूर्यनारायण सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च का प्रकाशन करते हैं वैसे ही क्षेत्री भी सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रकाशन करते हैं।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३.५-६)

पञ्चमहाभूत, अहंकार, महत्, अव्यक्त इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि षोडश विकार ही अनन्तकोटि विश्वप्रपञ्च हैं। भगवान् सूर्यनारायण की भाँति स्वप्रकाश, अखण्डबोध-स्वरूप ब्रह्म ही इस क्षेत्र का क्षेत्री है, भासक है। ईश्वर भी वही सूर्य है; बिम्ब रूप बनकर ईश्वर हो गया। जैसे, एक ही सूर्य अनेक घड़ों में रखे हुए जल में अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होता है—

जिमि घट कोटि एक रवि छाँही।

ईश्वर बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों ही है। जीवों की अपेक्षा वही परात्पर परब्रह्म 'ईश्वर' नाम से जाना गया। उदाहरणतः अनेक घड़ों में पानी भरा है; उनमें एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित है, जब तक घड़ों में पानी है तब तक प्रतिबिम्ब का अस्तित्व है। जब तक एक भी घड़े में पानी रहेगा तब तक सूर्य भगवान् का प्रतिबिम्ब भी रहेगा। इसी तरह जब तक प्रतिबिम्बस्वरूप एक भी जीव रहेगा तब तक बिम्ब-स्वरूप ईश्वर भी रहेगा। सम्पूर्ण जीवों के नष्ट हो जाने पर ईश्वरत्व भी शुद्ध ब्रह्म में ही समा जायगा। जब तक अन्तःकरण के समाप्त होने पर ईश्वर-नामक सत्ता भी नहीं रह जायगी। तब केवल मात्र शुद्ध ब्रह्म ही रह जायगा यह अवस्था ही मुक्ति है। ईश्वर के साथ ब्रह्म में मिल जाना ही जीव की मुक्ति है। अन्तःकरणादि उपाधियों का छूटना ही मुक्ति, कैवल्य है। कैवल्य-प्राप्त जीव ईश्वर-शक्ति से सम्पन्न हो जाता है अतः स्वभावतः ही लीला-विग्रह धारण कर सकता है। जैसे कोई प्राणी अपराधी होकर विवशतापूर्वक जेल में जाता है परन्तु जेलर वहाँ का व्यवस्थापक बन कर वहाँ की सम्यक् व्यवस्था हेतु जाता है वैसे ही सामान्य जीव कर्म-फलभोग-हेतु ही संसार में आता है और परमात्मा उनको मुक्त करने के लिए आते हैं। ऐसे ही भक्त भी संसार में आते हैं। परन्तु उनका आगमन फल-भोग-हेतु नहीं, अपितु स्वेच्छया होता है।

वे स्वेच्छया भगवान् के साथ भी अथवा आगे-पीछे भी भगवत्-धाम में लौट जाते हैं। अस्तु, राधारानी भक्ति-मार्ग का पोषण करती हुई 'मुकुन्द' (मुक्तिदाता) जैसा नाम कहकर लीला से व्यंग्य करती हैं। मुकुन्द तो मृत्यु के बाद ही मुक्ति देते हैं परन्तु भक्त-जन नामामृत-पान से जीवन्मुक्त हो जाते हैं। राम नाम साधन भी है साध्य भी है।

राधारानी कह रही हैं—हे मधुप! तुम्हारे स्वामी मुकुन्द हैं, वे मृत्यु के बाद ही मुक्ति देते हैं, अतः हमारी मृत्यु के बाद ही उनका 'मुकुन्द' नाम सार्थक हो सकता है। परन्तु तुम तो उनसे सन्धि कर लेने का प्रस्ताव कर रहे हो। ऐसे प्रस्ताव से तुम हमारी प्रवञ्चना तो कर ही रहे हो, साथ ही अपने स्वामी की भी प्रवञ्चना कर रहे हो।

अकृतचेता विसृष्टापत्यपत्यन्यलोकाः, अस्मान् अकृतं अकार्यशीलं च, चकारात् इतः वयं चेताः। पहले तो उन्होंने बरबस हम लोगों को पति-पुत्र एवं अन्य सगे-सम्बन्धियों से विलग कर दिया और जब हम इनको छोड़कर उनके पास गयीं तो उन्होंने 'इतः अस्मान् व्यसृजत्' हम लोगों को छोड़ दिया; मानो हमारे साथ विश्वासघात किया। नीति है कि धोखा देना बहुत बड़ा पाप है परन्तु धोखा खाना उससे भी गुरुतर पाप है। साथ ही 'न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।' विश्वस्त में भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए तो अविश्वस्त में विश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता। हमारी यह दशा इसलिए है कि हमने उनका इतना अधिक विश्वास किया और वे हमको छोड़कर चले गये। श्याम-सुन्दर बहुत ही अकृतज्ञ हैं, अतः उनसे सन्धि कैसे की जा सकती है। उक्त वचन राधारानी के उत्कृष्ट प्रेमोन्माद-जन्य चित्र-जल्प हैं।

कहा जा चुका है कि अन्तःकरण एवं आत्मा के अन्योन्याध्यास के कारण ही जीव के लिए संसार सम्भव होता है। वेदों का उपक्रमोपसंहार आदि षड्विध लिंग से परात्पर परब्रह्म में तात्पर्य निर्धारण कर भगवान् से समन्वय करें तब अज्ञान-निवृत्ति होने पर भगवत्-स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है और संसार बाधित हो जाता है।

भगवत्साक्षात्कार के लिए भगवदनुवृत्ति अन्तरंग साधन है, यही श्रुति का भी उपदेश है। 'अकृत' शब्द जीव के प्रति सम्बोधन है। जीव नित्य ही 'अकृत' है। श्रुतियाँ आभास करती हैं कि लोगों की उत्पत्ति की तरह ही जीव की भी उत्पत्ति होती है। जैसे महान् अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती रहती हैं वैसे ही भगवान् से अनेकानेक लोक एवं जीव उत्पन्न होते रहते हैं। भगवान् व्यास लिखते हैं, 'नात्माऽश्रुतेः' (ब्रह्मसूत्र २.३.१७) अर्थात् 'आत्मा न उत्पद्यते', आत्मा

की उत्पत्ति नहीं होती; आत्मा की उपाधिरूप अन्त:करण की उत्पत्ति मानी जाती है। आत्मा, बोध चित् और आनन्द के साथ अनादि एवं अखण्ड है; अन्यथा एक विज्ञान में सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा भंग हो जायगी।

श्वेतकेतु अनूचानमानी होकर स्तब्ध हो गया। उनके पिता उद्दालक ने उनसे प्रश्न किया—'क्या तुमने एक को जान लेने पर सब कुछ जान लेना भी पढ़ा है?' श्वेतकेतु आश्चर्यचकित हो गये; एक को जानकर सबको कैसे जाना जा सकता है? जैसे मिट्टी के ज्ञान से घटादि का भी ज्ञान हो जाता है वैसे ही एक सृष्टिकर्त्ता के ज्ञान से सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान हो जाता है। जैसे तरंगरूप कार्य का कारण समुद्र है वैसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का कारण परब्रह्म है। आकाशादि सम्पूर्ण जगत् भगवान् से ही उत्पन्न हैं उनमें ही स्थित हैं और उनमें ही लीन भी हो जाता है। भास्कराचार्य अपने ग्रन्थ 'वरिवस्यारहस्य' में कहते हैं कि यथार्थ में एक विज्ञान में शेष का बाध हो जाता है। जैसे, रज्जु-ज्ञान से सर्पादि-ज्ञान लुप्त हो जाता है, वैसे ही प्रभु के साक्षात्कार से जगत् का बाध हो जाता है। एक विज्ञान में सर्व-विज्ञान जैसे श्रुति-कथन का तात्पर्य यही है कि एक विज्ञान से जिज्ञासोपशान्ति हो जाती हैं। जगत् की विभिन्न वस्तुओं में अस्तित्व बुद्धि समाप्त हो जाने पर जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। यही एक विज्ञान से सर्व-विज्ञान है। ज्ञान का फल है जिज्ञासोपशान्ति। ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म-भिन्न अनात्मा का ज्ञान हो जाता है, अत: एक के ज्ञान से सर्वज्ञान हो जाता है। जैसे, धलिक्षेप से मुँह बन्द हो जाता है वैसे ही अविद्या के अनादि रहने पर भी उसका बाध हो जाता है। जीव, ईश्वर, विशुद्ध, चैतन्य, अविद्या तथा अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध तथा जीव एवं ईश्वर का विभाग, ये छहों अनादि हैं।

कहा जा सकता है कि जब पाँच के अनादि रहने पर भी एक के विज्ञान के सर्व-विज्ञान में बाधा नहीं पड़ती तो एक आत्मा भी अविदित रह जाय तो उससे भी क्योंकर बाधा पड़ सकती है? इसका समाधान यही है कि वस्तुत: सभी भेद या तो आत्म-मूलक हैं अथवा अविद्या-मूलक। इन दोनों से अतिरिक्त कोई अनादि नहीं, अत: शेष पाँचों अविद्या में आ जाते हैं। यथार्थ में भेद दो ही हैं, एक ब्रह्म दूसरी अविद्या। ब्रह्म के साक्षात्कार से अविद्या नष्ट हो जाती है। जीवात्मा ब्रह्मात्मा-स्वरूप है अत: अनात्मा को मूल नहीं माना जा सकता। सार यह कि भगवद्-अनुवृत्ति ही अनिवार्य कर्तव्य है। श्रवण-मनन से ब्रह्म-विज्ञान हो भी जाय तो उसमें सुस्थिरता के लिए प्रयास अत्यावश्यक है। योग एवं क्षेम दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं। अप्राप्त की प्राप्ति ही योग है, प्राप्त की सुरक्षा ही क्षेम है। एतावता, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष, वैराग्य सबमें योग

और क्षेम अनिवार्य है। जैसे, एक बार दही से मक्खन निकाल लेने पर उसको पुन: कदापि उस दही में नहीं मिलाया जा सकता अथवा जैसे दूध दुह लेने पर उसको पुन: थनों में नहीं भरा जा सकता वैसे ही एक बार ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर उसका नाश नहीं होता तथापि 'मनुस्मृति' में ज्ञान का क्षरण कहा गया है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—एक सुदृढ़ ज्ञान और दूसरा अदृढ़ ज्ञान। अदृढ़ ज्ञान ही क्षरित होता है, सुदृढ़ ज्ञान कदापि क्षरित नहीं होता। अजितेन्द्रिय प्राणी का विज्ञान क्षरित हो जाता है, अत: तत्त्वदर्शी के लिए भी सदाचारी होना अनिवार्य है। ब्रह्म का चिन्तन भी पूजन है—यही 'मुकुन्द दौत्य' है। 'मुक्तिदानाय सर्वदोपदेश-परायण: मुकुन्द:' मुक्तिदान-हेतु निरन्तर सदुपदेश-परायण ही मुकुन्द है। अत: तेजस्वरूप कृष्णरूप भी मुकुन्द है, वेद भी मुकुन्द है। कृष्ण-वचन एवं वेद-वाक्य ही मुकुन्ददूत हैं। काशीवास के प्रति एक आख्यान है। 'जाबल-उपनिषद्' का कथन है, काशी के वासी विमुक्त की सेवा करें, वाराणसी की सेवा करें। 'पाणेषूत्क्रममाणेषु रुद्र: तारकं ब्रह्म व्याचष्टे'। क्योंकि काशी-वासी मरण-काल में देवकृत तारक मन्त्र के उपदेश से मुक्त हो जायगा। वेद-वाक्य है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर उप० ६.२३)

अर्थात् जिसको देव में और गुरु में समान रूप से परा भक्ति हो गयी है, उसी के हृदय में उपनिषद्-प्रोक्त अर्थ, ब्रह्म का प्रकाश होता है।

ऐसे अनेक वेद-वाक्य हैं। श्वेताश्वतर ऋषियों ने भी ब्रह्म का प्रतिपादन किया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेता ६.१८)

वेद की अन्यान्य शाखाओं के वाक्य भी साधक को ब्रह्मज्ञान कराते हैं। ऐसे वाक्यों से साधक जान जाता है कि जिस भगवान् ने ब्रह्मा को बनाकर उनको वेद भी पढ़ाया, उसी को ग्रहण करना है। अत: वेदों ने ही भगवान् की अनुवृत्ति बताई है। भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८.६२)

अर्थात्, हे अर्जुन! तू भगवत्-शरण में जा, उसके प्रसाद से ही तुझे शाश्वत शान्ति प्राप्त होगी। वह शरण्य कौन है? यह बताते हुए कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८.४६)

अर्थात्, जिसमें सम्पूर्ण प्राणियों की प्रवृत्ति हो, जो सबका अन्तर्यामी हो उसी की शरण जा; जैसे विद्युत् पर ही सम्पूर्ण यन्त्रों (मशीनों) की हलचल निर्भर रहती है वैसे ही भगवत्-सत्ता मात्र से ही सम्पूर्ण प्राणियों की गति-विधि सम्भव होती है। इतर भूतों में भी परमात्मा व्याप्त है; वही शाश्वत है। शाश्वत-तत्त्व को प्राप्त करना ही सबका अनिवार्य कर्तव्य है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। *(गीता ९.१४)*

सतत कीर्तन करो; 'कृत संशब्द ने चुरादिगण' से कीर्तन शब्द होता है। दृढ़ व्रत होकर ब्रह्म-चिन्तन करो।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ *(गीता १०.९,११)*

अर्थात्, उनके (दृढ़व्रत हो चिन्तन करने वालों के) ऊपर अनुकम्पा करने के लिए उनके आत्मभाव से स्थित होकर मैं उनका अज्ञान-जन्य तम नष्ट करता हूँ। गोस्वामी तुलसीदास भी लिखते हैं :

जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहि न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सरभारी। रूप बिन्दु जल होंहि सुखारी॥
तिन्हँ के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक॥

जसु तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हियँ तासु॥

तात्पर्य कि मनसा, वाचा, कर्मणा भगवत्-सेवा में लीन भक्त-जनों पर अनुग्रह कर भगवान् उनके अनादि अज्ञान अंधकार को समाप्त कर उनके ज्ञान रूप दीपक को प्रज्वलित कर देते हैं। श्रुति-कथन है, हे अकृत! 'मुकुन्दात्

दौत्यैरिव दौत्यैः' मुकुन्द भगवान् अर्थात् वेद-भगवान् के वाक्य, धर्म-शास्त्रों के वाक्य ही मुकुन्द श्रीकृष्ण के दूत हैं; वे अभेद्य हैं अर्थात्—जीव का ब्रह्म में अभिगमन करा देते हैं। अनेकानेक जन्मजन्मान्तरों से जीव भगवत्-पराङ्मुख है; उक्त वचनों के द्वारा ही वह भगवदभिमुख होता है।

सनमुख होहि जीव मोहि जबही।
कोटि जनम अघ नासौ तबही॥

भगवत्-विमुख जीव पर ही माया का आक्रमण होता है अतः आर्त जीव प्रार्थना करता है—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

(भाग० ११.२.३७)

हे भगवन्! इस माया को मारो परन्तु माया भगवत्-सेविका है अतः वे उसको मारते नहीं। माया भगवत्-विमुख प्राणी को त्रासित कर भगवदभिमुख होने की प्रेरणा देती है। भगवान् कहते हैं, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गीता ७.१४) जो मेरी शरण में आ जाते हैं वे माया से उपरत हो जाते हैं, तर जाते हैं। माया बड़ी कठिन त्रिगुणात्मिका है। इसके बन्धन के प्रभाव से प्राणी स्व-स्वरूप को भूल जाता है; माया से भ्रान्ति होती है, भ्रान्ति से द्वैत का अभिनिवेश होता है, द्वैत के अभिनिवेश से सर्वत्र भय ही भय होता है। गुरु में, देवता में मन लगाने से भय-निवृत्ति होती है। परमेश्वर ही सर्वेश्वर हैं, अतः परमेश्वर को भजो।

मम दरसन पल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा॥

विपर्यय के नष्ट हो जाने पर द्वैत नष्ट हो जाता है, द्वैत के नष्ट हो जाने पर भय नष्ट हो जाता है और प्राणी अपने सहज स्वरूप को पहचान लेता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ *(गीता ९.१३)*

अर्थात्, मुझको ही अव्यय मानकर महात्मा पुरुष देवी प्रकृति का आश्रयण कर मुझको ही भजते हैं। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'हे जीवात्मन्! तू मुकुन्द से आविर्भूत जो दौत्य-तुल्य वाक्य हैं उनके द्वारा उनके आदेश को ग्रहण कर, श्रवण-मनन कर और उनकी ही अनुवृत्ति में संलग्न हो जा।

शिरसि पादं विसृज स्थापय मा मुञ्च।

भगवान् के मंगलमय चरणों को अपने सिर पर अनुनयपूर्वक धारण कर लें। विमुखता ही अननुनय है, अभिमुखता ही अनुनय है।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। *(वैष्णवतन्त्र)*

जैसी ही भक्त की भावना है—'भगवदाज्ञा, श्रुति-स्मृतियों का अनुगमन करना चाहिए 'आज्ञा परम सुसाहेब सेवा।' आज्ञा-पालन ही सर्वोत्तम सेवा है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। *(गीता)*

सम्पूर्ण सत्कर्मों को भगवान् में अर्पित कर देने से सिद्धि प्राप्त होती है।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(भाग० १०.२९.१)

गोपाङ्गनाजनों की भावना-पूर्ति-हेतु भगवान् ने मन बनाया; मन के निर्माण का कार्य यहाँ स्वयं के लिए है। वृत्ति, माया और अन्तःकरण दोनों का परिणाम है। जीव के लिए अन्तःकरण की दृष्टि और भगवान् के लिए माया-शक्ति का प्रयोग; माया ही उनका मन है। भगवान् स्वयं ही बोध-स्वरूप हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं, प्रकाशते जो स्वयं-प्रकाश हो या उसका संसर्ग हो; स्वयं-प्रकाशस्वरूप, बोध-स्वरूप भगवान् भक्त के मन को, अनुनय को, आनुकूल्य संकल्प को तत्काल जान लेते हैं। एतावता हे जीव! तू उनका ही वरण कर; 'मा मुञ्च' कदापि उनको न छोड़ना।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रामा० युद्ध० १८.३३)

अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा संसार-विमुख होकर भगवत्-शरण ग्रहण करने ही प्रकृष्ट प्राप्ति, प्रपत्ति अथवा शरणागति है। ऐसे आत्म-समर्पण और ब्रह्म-ज्ञान में अन्तर नहीं है। जैसे वेद के सामान्य विद्यार्थी को भी ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान तो हो ही जायगा किन्तु स्वरूप के गुण, अनन्त, अखण्ड, अभेद, निरुपाधिक ब्रह्म को जानने के लिए साधना आवश्यक है ऐसे ही भगवत्-शरणागति का निर्णय कर 'तवास्मि' की याञ्चा करते हुए भगवत्-चरणारविन्द रज को मस्तक पर धारण करो; फिर उनको कदापि न छोड़ो, यही सर्वातिशय कल्याण का एकमात्र मार्ग है।

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥

(भाग० १०.८७.२)

अर्थात् भगवान् सर्वशक्तिमान् तथा सर्वगुण-निधान हैं। श्रुतियाँ प्रत्यक्षत: सगुण का ही प्रतिपादन करती हैं परन्तु विचार करने पर उनका तात्पर्य निर्गुण में ही सिद्ध होता है। विचार करने के लिए ही भगवान् ने जीवों के लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की सृष्टि की है। इनके द्वारा वे स्वेच्छया धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का अर्जन कर सकते हैं।

श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, 'अकृतचेता जीव ने अपत्यपत्यन्य लोक के स्रष्टा भगवान् को 'व्यसृजत्' त्याग दिया। 'किं नु सन्धेयमस्मिन्' उस संधि-साधन, सर्व-प्राप्त-साधन, परमात्मा को भुला कर, माया में फँस गया, कृतघ्न हो गया।

कृते उपकारे न चेतो यस्य स अकृतचेता:।

किये हुए उपकार को भूल जाने वाला ही अकृत-चेता, कृतघ्न है। परन्तु भगवान् प्राणी के सहस्रों अपकार को भूल जाते हैं तथापि किसी के किञ्चित् मात्र उपकार को कदापि नहीं भुलाते।

चित न रहत प्रभु चूक किए की।
करत सुरत सौ बार हिए की॥

◆ ◆ ◆

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(वा० रामा० २.१.११)

जीवों के परमाणु-मात्र गुण को भी पर्वत-तुल्य मानते हुए भगवान् सन्तुष्ट होते हैं।

सार यह कि परमात्मा का जीव-मात्र पर बहुत उपकार है। अत: उनके पादारविन्द-रज पर अपना सिर धरना ही जीव का अनन्यतम कर्तव्य है। महापुरुषों ने भी भगवत्-प्राप्ति हेतु संसार का, माया का, त्याग किया; 'ते इत: मोक्षं गता:' वे मोक्ष को प्राप्त हुए। यही शिष्टाचार सदाचार परम्परा है। हे जीवात्मन्! तू भी इस परम्परा का अनुसरण कर—

महाजनो येन गत: स पन्था:। *(वनपर्व ३१२.११७)*

यही तेरे अशेष कल्याण का मार्ग है।

८

गोप्युवाच

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः।।

(भाग० १०.४७.१७)

हे मधुप! अपने रामावतार में उन्होंने बाली को व्याध की भाँति छिप कर मारा और अपनी स्त्री के वश में होकर शूर्पणखा के, जो उनके पास कामना-युक्त होकर आयी थी, नाक-कान काटकर उसको विरूपा कर दिया। ब्राह्मण के घर में वामन रूप में जन्म लेकर भी उन्होंने क्या किया? बलि ने तो उनकी पूजा की और उनको मुँह-माँगी वस्तु दी। परन्तु उन्होंने उसकी पूजा को स्वीकार करते हुए भी उसको वारुण-पाश से बाँधकर पाताल लोक में डाल दिया। उनका यह कृत्य ऐसा ही है जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देने वाले को अपने साथियों के साथ घेर कर परेशान करता है। हमें तो कृष्ण ही क्या, किसी भी काली वस्तु से कोई प्रयोजन ही नहीं रखना है। असितों (कालों) का संग ही दु:खदायी होता है। तथापि हे मधुप! हम उनको छोड़कर भी नहीं रह पातीं; अत: उनकी चर्चा (कथा) करती रहती हैं। वे अत्यन्त दुस्त्यज हैं।

मधुप क्रीड़ा कर रहा है और स्वभावत: गुनगुनाता है। परन्तु राधा रानी कल्पना करती हैं कि मधुप श्रीकृष्ण की ओर से संधि-प्रस्ताव लेकर आया है। अत: वे उत्तर देती हुई कहती हैं, 'तदलमसितसख्यै:' काले लोगों का साथ ही दुख:दायी है। तू स्वयं भी तो काला है, तेरा सखा भी काला है। जिसने उसका संग किया वही मारा गया। वे तो सदा के कुटिल हैं।

रामावतार में भी वे श्यामरूप ही थे।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।

तथा

नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम।

उस अवतार-काल में ही उन्होंने 'मृग्युरिव कपीन्द्रं विव्यधे' शिकारी की भाँति कपीन्द्र बाली को पेड़ों की ओट से मार डाला क्योंकि उनकी सुग्रीव से मित्रता थी। विश्रवा महर्षि की कन्या शूर्पणखा तो उनकी अनुरागिणी होकर उनके पास आयी थी परन्तु उन्होंने उसके भी नाक-कान काटकर उसको विरूपा बना दिया। इनका बाल-चरित्र भी निर्दयी है। 'अटसि भवानबला-कवलाय वनेषु किमत्र विचित्रम्। कथयति पूतनिकैव वधू-वध-निर्दय-बाल चरित्रम्' (गीतगोविन्द)। इन्होंने अत्यन्त बाल्यावस्था में पूतना-वध किया; अबलाओं के वध से ही इनका चरित्र प्रारम्भ होता है।

वामनावतार में भी इन्होंने बलि राजा से छल किया; जब ये बलि के यज्ञ में पहुँचे तो उसने इनकी मधुपर्क आदि से पूजा की और अपना सर्वस्व भी देने के लिए तत्पर हुआ परन्तु इन्होंने 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा, सन्तुष्टाश्च महीभुजः' असन्तुष्ट ब्राह्मण और सन्तुष्ट राजा नष्ट हो जाता है जैसा आदर्श कहते हेतु केवल तीन पग धरती ही माँगी। तीन पग धरती की चर्चा सुन शुक्राचार्य महाराज वामन-स्वरूप के यथार्थ को जान गये, 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।' अर्थात् इस सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च को विष्णु ने तीन पग में नाप लिया। यह वेद-कथन है, 'समूढस्य पांसुरे धूलियुक्ते पाद।' विराट् पुरुष के धूलियुक्त पाद में सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है। शुक्राचार्य ने अपने शिष्य बलि को सावधान किया परन्तु वह अपने वचन से विमुख नहीं हुआ। वामन भगवान् ने दो पद में सम्पूर्ण को नाप कर तीसरे पद में बलि को पाताल लोक पहुँचा दिया।

वल्लभाचार्यजी का सिद्धान्त है कि गोपाङ्गनाएँ वस्तुतः अपने आप को कृष्ण-सखा होने की अधिकारिणी नहीं समझती थीं। वेद-वचन है, 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि (ऋ० सं० १०.९५.१५) स्त्री-सम्बन्धी सख्य निभता नहीं; राजा के साथ भी सख्य निभता नहीं। 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा।' तात्पर्य कि सामान्य राजा की मित्रता का निर्वाह भी कठिन है तो ब्रह्माण्डाधीश कृष्ण के साथ सख्य का निर्वाह अत्यन्त दुरूहतम है।

प्रणय-कोप-जन्य इन चित्र-जल्प उक्तियों का यथार्थ अभिप्राय अन्यत्र है— शब्द कामधुक् हैं; कामधेनु की तरह शब्द सम्पूर्ण यथार्थ रूप दूध को देने वाले हैं। 'लुब्धधर्मः' जिसका धर्म नष्ट हो गया है; ब्राह्मण धर्म का पालन न करे तो ब्रात्य हो जाता है; जिसका उपनयन-संस्कार न हुआ हो वह ब्रात्य है। ब्रात्य शब्द का प्रयोग अन्यत्र निन्दनात्मक है परन्तु भगवान् के लिए व्यवहृत होने पर स्तुतिपरक हो जाता है। अथर्ववेद में एक 'ब्रात्य-काण्ड' है; तदनुसार ब्रात्य के सामने सभी काँपते हैं; ब्रात्य के चले जाने पर सम्पूर्ण वेद-राशि, सम्पूर्ण इतिहास-पुराण भी चले जाते हैं। भगवान् ही सदा ब्रात्य हैं, भगवान् ही सर्व-संस्कार-विमुक्त हैं। इसी तरह कपीन्द्र

शब्द का अर्थ 'कपिं सुग्रीवं द्रावयतीति कपीन्द्रः' निरपराध सुग्रीव को जिसने द्रावित किया हो ऐसे कपीन्द्र का, बाली का वध न्याय ही है। कहीं कहीं 'मृग्युरिव कपीन्द्रं' प्रयोग के स्थान पर 'मृग्युरिव किरातं' पाठ भी मिलता है। 'किन्' शब्द-वाच्य आनन्दवान् है। 'सः रातं मित्रं यस्य सः, किरातः तम् कम् अपरिच्छिन्नसुखं ब्रह्मात्मकं सुखं येषां ते किनः अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मक सुख प्राप्त है जिसको वह किन् है। 'किनः रातं मित्रं यस्य स किरातः' ब्रह्मानन्द-सिन्धु-निमग्न, ब्रह्मविद् वरिष्ठ जिसका मित्र हो वह किरात है।

'मृगयुः मृगान् वानरादि-विषयान् यौति इति मृगयुः मृगोपलक्षितैर्वानरैः भल्लूकैः किरातः सः यौति संसृष्टो भवति' जो वानर, भालू आदि कोटि के प्राणियों से भी सहज स्नेह-सम्बन्ध, मैत्री स्थापित कर ले वही मृगायु है। 'स्वभारेण महीं कम्पयति इति कपिः' अपने भार से पृथ्वी को कँपा देनेवाला, त्रस्त करने वाला ही 'कपि' है; ऐसे कपियों के, दुष्टों के, इन्द्र, वृषासुर को जिसने अपनी बाल्यावस्था में ही सींग खींचकर मार डाला। अस्तु, उक्त वचनों से भगवान् की दीनवत्सलता ही दर्शायी गयी है। ऋग्वेद में 'वृषाकपि' सूक्त है, 'आकम्पयति क्लेशं इति आकपिः वर्षति कामान् इति वृषः' कामनाओं की पूर्ति और क्लेशों को कँपाने वाला, नाश करने वाला ही 'वृषाकपि' है, भगवान् सदाशिव ही 'वृषाकपि' हैं।

'स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्', 'स्त्रीचित्' कहकर राधारानी सीता के प्रति ईर्ष्या व्यक्त करती हैं। सीता ही लक्ष्मी हैं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सीमा-रहित अनन्त आनन्द है। अतः लक्ष्मी के सम्बन्ध से उनमें महत्त्वातिशयाधान एवं अनर्थ-निवर्हण, ये दोनों पक्ष संगति-सापेक्ष नहीं बनते; समर्पिता लक्ष्मी को ही भगवान् ने स्वीकार किया। यथार्थ में राधारानी भगवती लक्ष्मी से अधिक भगवत्-अन्तरंगा हैं; जैसे गंगाजल की पवित्रता सहज स्वाभाविक है वैसे ही, राधारानी भी श्रीकृष्ण की सहज स्वाभाविक अन्तरंगा हैं तथापि प्रणय-कोप-लीला हेतु ही सीता के प्रति ईर्ष्या व्यक्त करती हैं।

'असितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः' गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे मधुप! काले के मित्र स्वभावतः ही कष्ट पाते हैं। क्षत्रिय राम भी काले थे, वामन भगवान् भी काले थे, कृष्ण भी काले हैं, अतः हमने नियम बनाया है कि हम कालों का संग कदापि नहीं करेंगी; आँखों में अञ्जन नहीं लगायेंगी, नील साड़ी नहीं पहनेंगी, नीलमणि नहीं धारण करेंगी, यहाँ तक कि 'धूलिधृता मस्तक' अपने काले बालों में भी भस्म लगा लेंगी।

इतना कुछ कह चुकने पर गोपाङ्गना-जनों को भासित होता है कि मधुप कह रहा है कि 'हे गोपाङ्गनाओं! ऐसी स्थिति में काले की चर्चा करना भी छोड़

दो।' इसका उत्तर देती हुई वे कह रही हैं 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थ:' वे अत्यन्त दुस्त्यज हैं, हम उनको छोड़ने में भी असमर्थ हैं।

किसी एक श्लोक की भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक उत्थानिकाए होती हैं। एक पक्ष यह भी है कि वह मधुप श्रीकृष्ण को अत्यन्त कोमल सिद्ध कर रहा है। मधुप के इस वचन का उत्तर देती हुई गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, हे मधुप! तुम तो अभी नये भक्त हो, हम तो उनको बहुत प्राचीन काल से जानती हैं। रामावतार में, वामनावतार में भी उन्होंने अपने कृत्यों द्वारा अपने कठोर स्वभाव का परिचय दिया है।

एक पक्ष और भी है, मानो मधुप कह रहा है कि श्रीकृष्ण तो दोषगन्ध-रहित हैं, हे व्रजाङ्गनाओं! तुम अपने दोषों का अनुसन्धान करो। प्रत्युत्तर में वे कह रही हैं, रामायणादि सत्-शास्त्रों की कथा भुलाई नहीं जा सकती, अत: उनकी क्रूरता का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'मृगयुरिव कपीन्द्रं' रामावतार में उन्होंने शिकारी की भाँति पेड़ों की ओट से बाली को मार डाला। माध्व-सम्प्रदाय के टीकाकार विजयध्वज के मतानुसार भगवान् राम द्वारा अन्यायकारी बाली का वध सर्वदा हितकारी एवं उचित था।

'मृगयु' और 'बाली' शब्दों का अर्थ क्रमश: दीनवत्सल और पूजा भी होता है। भक्तिमान्, भक्तिरूप ही बाली है, पूजोपहार को भी बलि कहते हैं। जो अपने आप को ही पूजारूप में भगवत्-चरणारविन्दों में निवेदित कर दे वही बलिदानी है; अपने आपको सर्वभावेन भगवत्-पूजा का उपकरण बना लेना ही बलिदान है; जैसे दीपक स्वयं जलता है परन्तु सबको प्रकाश देता है। दीपक के साथ जीवन का रूपक है। जीवन ही बाती है, स्नेह (तैल) है, बिरह ही ताप है; ऐसे सर्वदानी, सर्वस्व होम देने वाले, निस्पृह भक्त ही 'बलि' हैं। राधा भक्ति-स्वरूप हैं, 'आराधयति इति राधा:' आराधना ही राधा है, 'श्री सेवायां' लक्ष्मी सेवा का मूर्त रूप है।

'बलि' का अर्थ मनोरथ भी है। 'सर्वस्वात्म-निवेदने बलिरभूत्।' (भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व लहरी २ में उद्धृत) अपने मनरूपी रथ पर भगवान् को आसीन कर लेना, सर्वस्व-सहित आत्मा को भगवत्-चरणारविन्दों में अर्पित कर देना ही यथार्थ भक्ति है। ऐसे सर्वस्व-आत्मनिवेदन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण राजा बलि हैं। ऐसे अनन्य भक्त को प्रभु द्वारा रसातल भेज दिया जाना अनुचित ही प्रतीत होता है। श्रुति-कथन में इसका समाधान है; 'बलयते स बलि:' जो बलपूर्वक परिवर्तन करना चाहे वह 'बलि' है। राजा बलि ने इन्द्र के त्रैलोक्य जैसा अपना त्रैलोक्य बनाना चाहा; इन्द्र के रहते अपने शौर्य से स्वयं इन्द्र बनना चाहा; राजा बलि का यह कार्य चौर्य-कर्म था। चोर मूढ़ या लुब्ध ही होता है

अतः वह दण्डनीय है। सिद्धान्त है, 'मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः' मायाचारी के साथ मायापूर्ण और साधु के साथ साधुतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। जो जैसा हो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें। राजा बलि ने छल से इन्द्र को हराया अतः वह दण्डनीय हुआ; यह राजनीति-संगत सिद्धान्त है।

'विरूपां स्त्रियम्'; विरूप शब्द बोलने वाली स्त्री। मर्यादापुरुषोत्तम राम के प्रति काम-भाव युक्त शब्दों का प्रयोग अशोभनीय है; ऐसे अशोभनीय शब्दों को बोलनेवाली विरूपा-स्त्री, महर्षि-कन्या शूर्पणखा का वध नीति-संगत ही था; अथवा 'कामयानां काममेव यानं रथो यस्याः' कामरूप रथपर आरूढ़ होकर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् के पास जाना शूर्पणखा का दोष था अतः वह दण्डनीय थी।

'असितसख्यैः अलम् असितानां सख्यानि असित-सख्यानि; असितानां श्यामानां मैत्रीभिः अलम्।' अथवा 'असितस्य मेघस्य श्यामस्य' व्रजाङ्गनाएँ किसी भी प्रकार के असित से सम्बन्ध नहीं रखना चाहतीं; श्याम, काले बादल तुल्य श्याम हैं। अथवा 'असित नित्यमुक्ताः' 'षिञ्बन्धने धातु' जो बन्धन से आबद्ध है वह सित है; 'असितः अलुब्धः नित्यमुक्तः' अलुब्ध, नित्यमुक्त एकमात्र श्रीकृष्ण परमात्मा ही हैं; जीव आदिमुक्त है; श्रीकृष्ण अनादि मुक्त हैं। अतः नित्य, शुद्ध-बुद्ध भगवान् असित हैं; उनसे सम्बन्ध जोड़ लेना ही उनका सख्य है।

शरणागति के अनेक रूप हैं, 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' (गीता ९.१८) भगवान् को ही अपना गन्तव्य परम तत्त्व स्वीकार कर लेना ही सख्य है। 'आत्मनः अलंकारः' यही आत्मा का अलंकार भी है। 'सर्वस्व आत्म-निवेदन ही अलं भूषणं आत्मनः अर्हणा' सर्वस्व भाव से पूर्णतः आत्म-निवेदन ही पूजा-भाव है, सेवा है।

'बलिमपि विलवासं वेद्विद्-वर्ग-वंद्यः' पाठ भी मिलता है। जो भगवान् वेद-विद्-वर्ग द्वारा संस्तुष्य हैं, उन्होंने बलि को रसातल-वासी बना दिया। 'वेदाविदांवर्गो वर्जनं येषु सूत-मागध-बन्दिषु' वेद-विद् भगवान् की स्तुति करते रहते हैं तथापि वे सूत-मागध बंदी जनों के अन्तर्गत नहीं आते।' स्नातमन्यत्र छान्दसात्' छान्दस विषय से अन्यत्र स्नात ही सूत है। सूतजी वेदों में निष्णात नहीं थे फिर भी शौनकादि ने उनको आसन पर बिठाया; और कहा, 'मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्' हे सूतजी! हम लोग आपको छान्दस् वेद के अतिरिक्त वाणी के सम्पूर्ण विषयों में पारगंत मानते हैं। महाभारत में उल्लेख है कि व्यासजी ने अपने चार शिष्यों को वेद पढ़ाया; जैमिनि को साम, सुमन्तु को अथर्व, ऐल को ऋक् और वैशम्पायन को यजुर्वेद तथा शुकदेव को वेद के

अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् भी पढ़ाया; सूतजी को इतिहास-पुराण ही पढ़ाया। सूतजी उग्रश्रवा के अपत्य थे अत: सौति कहलाये; सैति अर्थात् सुत-पुत्र। वेद-विदों का वर्जन हो जिसमें ऐसे जन, सूत-मागध-बंदी हैं। अस्तु, राधारानी प्रणय-कोपवशात् व्यंग्य करती हैं कि मागध-सूत-बंदी जनों के अतिरिक्त कोई वेद-विद् श्रीकृष्ण की स्तुति नहीं करता।

इस उक्ति का प्रशंसामूलक अर्थ भी है। भृगु, अंगिरा, पुलस्त्य, बृहस्पति, शुक्र आदि सभी प्रसिद्ध वेद-विद्-वरिष्ठ जन स्वयं असित (नित्यमुक्त) होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण की कथा करते अघाते नहीं। उनकी कथा में ही कुछ ऐसी अद्भुत आकर्षण शक्ति है; जैसे कोई तंत्र-विवश हो, तंत्र-मूढ़ हो बरबस ही तांत्रिक के सान्निध्य में खिंचा चला आता है तथापि तांत्रिक की प्रीति का पात्र नहीं होता वैसे ही हम गोपाङ्गनाएँ भी विवश हो गयी हैं; हम उनके स्मरण-चिन्तन रूप सान्निध्य से दूर नहीं रह पातीं तथापि वे हम से दूर चले गये हैं। सम्पूर्ण वन्दना उनको निर्दोष नहीं सिद्ध कर सकती।

राधारानी को पुन: आभासित होता है कि मानो भ्रमर कह रहा है कि हे राधारानी! आप तो निर्दोष हैं। आप क्यों परनिन्दा कर रही हैं? निर्दोष को परनिन्दा नहीं करनी चाहिए।' प्रत्युत्तर करते हुए वे कह रही हैं, 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थ:' श्रीकृष्ण इतने अन्यायी हैं कि क्रोधवशात् अपने आप ही उनकी निन्दा निकल जाती है यद्यपि स्वेच्छया हम निन्दा नहीं करतीं। तात्पर्य यह कि यह रागानुगा प्रीति का चमत्कार है। सामान्य संसारी जन तो भगवत्-कथा में मन लगाने का प्रयास करते हैं परन्तु रागानुगा प्रीति के कारण इन का मन सहज रूप से भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा में ही लगा हुआ है, उन से विरत हो ही नहीं पाता। भगवत्-कथा-श्रवण-पुण्य से प्राणी के सम्पूर्ण दोष दूर हो जाते हैं।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानै:।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

(भाग० ११.१४.२६)

अर्थात् जैसे अंजन के प्रयोग से चक्षुओं का मार्जन होता है और उनमें सूक्ष्म वस्तु देखने की शक्ति आ जाती है वैसे ही मेरी पुण्य-कथाओं के श्रवण के पुण्य से और नामोच्चारण से मन (आत्मा) शुद्ध होता चलता है और उससे मेरे स्वरूप-साक्षात्कार की शक्ति आ जाती है।

ब्रह्मसूत्रों में विड्भुक्-खाद्य पर विचार है। जैसे शूकर उत्तम खाद्य न चाहकर त्याज्य वस्तु-भक्षण में ही मग्न रहता है वैसे ही संसार-लिप्त प्राणी को भगवत्-कथामृत में रसास्वादन नहीं होता। संसार का यह कर्म-जगड्वाल ऐसा

है कि प्राणी इन्द्र बनकर भी पुनः शूकर बन जाता है, कुकर्म का फल ही शूकर है। धन्य हैं वे जिनका मन भगवत्-कथा में लीन हो; सर्वाधिक धन्य हैं वे सौभाग्यशालिनी गोप-बालाएँ जिनकी श्रीकृष्ण परमात्मा में ऐसी अविचल निश्छल अनन्य प्रीति है कि प्रयास कर-कर भी वे अपने मन को उनसे विरत नहीं कर पातीं।

एक अन्य भाव यह भी है कि मानो मधुप कह रहा है, हे राधारानी! आपने तो सर्वस्व का त्याग कर श्रीकृष्ण से मैत्री की है, अतः यदि कभी सखा से कलह भी हो जाय तो भी विरोध न कर सख्य का ही संरक्षण करना चाहिए। मधुप के ऐसे वचनों का उत्तर देती हुई वे कह रही हैं, हे मधुप! हमने कृष्ण को नहीं त्यागा, वे ही हमको त्यागकर मथुरा चले गये। अब वे तो हम से नहीं मिलेंगे अतः हम उनके कथार्थ की शरण में ही जीवन बिता देंगी। यदि उनका यह कथार्थ भी हमें त्याग दे तो भले ही त्याग दे परन्तु हम उनका त्याग नहीं कर पायेंगी क्योंकि वह अत्यन्त दुस्त्यज है।

उक्त सम्पूर्ण वचनों का तात्पर्य नाम-महिमा को बताना ही है। 'श्रद्धया हेलया वा' (हरिभक्ति विलास ११.२३४ उद्धृत स्कन्दपुराण श्लोक) श्रद्धा अथवा अवहेलनापूर्वक कहा गया, 'नारायण' नाम कल्याणकारी है। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं,

भाँय कुभाँय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

गज, गणिका और अजामिल-आख्यान प्रसिद्ध हैं। ऐसे अनेक उदाहरण विभिन्न ग्रंथों में मिलते हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा की भाँति ही उनका कथार्थ भी शक्तिमान् है। नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों उन्हीं का साक्षात् स्वरूप है। जिस किसी तरह चिन्तन किया जाय सबका एकमात्र आश्रय कथार्थ ही है। अतः कथार्थ अत्यन्त दुस्त्यज है। ऐसे कथन अनन्यता के द्योतक हैं। प्रेम-वैवश्य ही सर्वोच्च प्रेम का उदाहरण है। सामान्यतः प्राणी मात्र को विवशता खलती है। 'सर्वं परवशं दुःखं सर्वात्मवशं सुखं' अपना कार्य, अपना स्वार्थ अपने वश में हो यही सुख की परिभाषा है। 'सर्वं परवशं दुःखं' परवशता ही दुःख है तथापि 'मधुरं प्रेमवैवश्यं' प्रेम की विवशता सुखद है क्योंकि यह अत्यन्त मधुर है।

विशिष्ट भक्तों को भागवत-कथा भी भगवत्-भक्ति में विघ्न-स्वरूप ही प्रतीत होती है क्योंकि कथा भी मूलतः शब्द है; शब्द का चिन्तन होने पर ही शब्दार्थ का चिन्तन सम्भव है। जो अनन्य भक्त शब्दार्थ रूप भगवत्-स्वरूप में ही ध्यानावस्थित हैं उनके लिए कथा शब्द भी विघ्न-स्वरूप ही प्रतीत होता है। श्वेत-द्वीप वासी भक्त जन कथा भी नहीं सुनते। कथा तो अभाव में ही सम्भव होती हैं, जिनका मन संसार में लिप्त है उनके लिए कथा रुचिकर हो सकती

है परन्तु जो भगवत्-स्वरूप में ही एकनिष्ठ हैं उनके लिए वह भी विघ्नस्वरूप ही सिद्ध होती है। राधारानी मनसा प्राणेन, अन्तरात्मतया सम्मिलित हैं, सदा-सर्वदा-सर्वभावेन कृष्ण-सन्निधान में हैं। अतः उनके लिए कृष्ण-कथा भी विघ्नस्वरूप होते हुए भी अत्यन्त दुस्त्यज है। प्रेम की दशमी दशा मरण है; मरण से भी कोटि-गुणित संताप की अनुभूति के लिए गोपाङ्गनाओं ने जीवन धारण कर रखा है। इस तापानुभूति, विरहानुभूति के लिए ही कथा अत्यन्त दुस्त्यज है।

'असितसख्यैः अलम्' कालों की मैत्री से अलम्—भर पाये! श्याम का प्रेम निष्कपट नहीं है। अतः उनके साथ सख्य नहीं करना है। अथवा श्रीकृष्ण 'असित' हैं, अशुद्ध चित्त हैं। 'गीत-गोविन्द' में राधारानी की उक्ति है।

वहिरिव मलिनतरं तव कृष्ण मनोऽपि भविष्यति नूनम्।

(सर्ग ८)

उनका अन्तर भी उनके तन की तरह काला है। ऐसे कालों की संगति नहीं करनी चाहिए। प्रत्युत्तर में मधुप कह रहा है, राधारानी! परनिन्दा करने के कारण तुम भी असित हो रही हो।' मधुप का समाधान करती हुई वे कह रही हैं, हम पर-निन्दा नहीं करतीं, हम तो कथार्थ का ही वर्णन कर रही हैं।

श्रौत-पक्षानुसार जीव को भगवद्-अनुवर्ती होना चाहिए; आप्तकाम, पूर्णकाम भगवान् भी भक्त-हित-हेतु अकृत्य भी कर लेते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं।

सोइ करतूत बिभिषण केरी। सपनेउ सो न राम हिय हेरी॥
जहि अघ बध्यो व्याध इव बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥

और एक वचन है—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकारणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(वा० रामा० २.१.११)

अर्थात् छोटे-से-छोटे उपकार को भी सदा याद रखना और भयंकर अन्याय को भी क्षमा कर देना ही भगवत्-पक्षपात है। भगवत्-पक्षपात का अधिकारी बनने की योग्यता सब में है। 'विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्' वा० रा० ६.१८.३४ विभीषण हो अथवा सुग्रीव हों; यहाँ तक कि स्वयं रावण ही क्यों न हो, जो भी शरणागति स्वीकार कर लेता है वही भगवत्-पक्षपात का अधिकारी हो जाता है। भगवान् शरणागतवत्सल हैं, शरणागत पर अनुग्रह कर अभय प्रदान करना उनका सहज स्वभाव है। भगवान् राघेवन्द्र रामचन्द्र स्वयं कर रहे हैं—

मम पन शरणागत भयहारी।

और—

कोटि विप्र वध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥

क्योंकि—

सन्मुख होइ जीव मोंहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं।
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तोहि भाव न काऊ॥
जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई।
निर्मल मन जनु सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

श्रुतियाँ भी सतत भगवत्-शरणागति-ग्रहण का ही उपदेश करती हैं। भगवान् भी शरणागत-वत्सल, शरणागत-पक्षपाती हैं।

'असितानां पुत्रकलत्रादीनाम्' पति, पुत्र, पत्नी आदि सम्पूर्ण लौकिक प्राकृतिक सम्बन्ध असित, अशुद्ध हैं क्योंकि इनका सख्य जन्म-मरण-लक्षणा संसार-संसृति-परम्परा का ही कारण बनता है। अत: ऐसे असित सख्य का सर्वथा त्याग ही कर्तव्य है।

वल्लभाचार्य ने भगवत्-सेवा में तत्पर परिवार को महान् माना है। जिस परिवार के सब सदस्य परस्पर सद्भाव रखते हुए भगवत्-परायण हों वह भगवदीय कुटुम्ब माना जाता है। 'मन्निकेतन्तु निर्गुणं' सम्पूर्ण भावनाएँ किसी न किसी गुण पर आधारित रहती हैं परन्तु भगवत्-परायणता निर्गुण भाव है। जन्म-मरण-लक्षणा संसृति संसार से मुक्ति पाने का एकमात्र कारण असित-सख्य का त्याग कर भगवत्-शरणागत-परायण होना ही है।

'दुस्त्यजस्तत् कथार्थ:' भगवत्-कथा दुस्त्यज भी है। जिसको भी एक बार इस कथामृत-रस का स्वाद मिल गया, चसका लग गया, उसके लिए अन्य सम्पूर्ण लौकिक रस नीरस हो जाते हैं। स्वभावत: ही प्राणी रसानुग्रही, रस-भोक्ता है अत: वह इस अलौकिक दिव्य रसामृत से अघाता ही नहीं; तब विरत तो हो ही कैसे सकता है! एतावता कथार्थ सर्वथा दुस्त्यज है।

९

गोप्युवाच

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूष विप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्यदीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥

(भाग० १०.४७.१८)

अर्थात् श्रीकृष्ण की लीला-रूप कथामृत के एक कण का भी जो रसास्वादन कर लेता है उसके दुःख-सुख, राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व छूट जाते हैं; यहाँ तक कि कुछ तो अपनी गृहस्थी को ही त्यागकर रोते हुए दीन एवं दुःखी परिवार-जनों को त्यागकर चल पड़ते हैं और स्वयं भी अकिञ्चन हो जाते हैं। तब वे पक्षियों की भाँति जगह-जगह दाना चुन-चुनकर, जगह-जगह भीख माँगकर अपनी उदर-पूर्ति करते हैं; दीन-दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

भगवान् श्रीकृष्ण के विभिन्न अवतारों में किये गये सम्पूर्ण चरित्र लीला मात्र हैं; वे कर्म-कोटि में नहीं आते। कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं नानात्व बुद्धि से संयुक्त होने पर ही कर्म सम्भव होता है; उक्त तीनों वृत्तियों के अभाव में कर्म नहीं बनता। प्रभु-चरित्र में कर्म नहीं, कर्माभास है अतः वे लीला मात्र हैं। ये लीलाएँ कर्म-पीयूष हैं तदपि परिणामतः कठोर हैं।

श्रुतियों में संसार को श्रवण-रमणीय एवं चक्षु-सुखा कहा है; भगवत्-कथा भी श्रुति-सुखा है। एक बार भी जिसने इसके एक बिन्दु का भी पान कर लिया उसके सम्पूर्ण राग-द्वेषादि द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं। 'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्' कथामृत-रस-पान करने वाला सम्पूर्ण सांसारिक सम्बन्धों को त्याग कर भजन में प्रवृत्त हो जाता है, पारिब्राज्य धारण कर लेता है। ऐसा व्यक्ति द्वन्द्व-धर्म संसार के नष्ट हो जाने पर स्वयं फकीर हो जाता है; मोह-ग्रस्त उनका परिवार दीन-दुःखी होता है, परन्तु वह स्वयं घर-बार त्यागकर पक्षियों की भाँति इतस्ततः विचरण करता हुआ घर-घर भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेता है।

गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, भगवत्-कथामृत पान का ऐसा कठोर परिणाम होता है, यह जानकर भी हम उसका त्याग नहीं कर पातीं। श्रीधर स्वामी कहते हैं, भगवत् कर्म-रूपी लीलाओं को हृदयंगम कर लेने वाले प्राणी का द्वन्द्व नष्ट हो जाता है। 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:' (गीता ४.९) विधूत-द्वन्द्व-धर्मा व्यक्ति कदापि विनाश को प्राप्त नहीं होता। 'बृहदारण्यक' (४.५.१४) का उल्लेख है 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्ति धर्मा' केवल देहादि ही उच्छिन्न हैं।

अथवा 'विगतं नष्टं नशनं येषां ते विनष्टा:' जिनका नाश सदा के लिए मिट गया हो वे विनष्ट हैं; भगवत्-साक्षात्कार होने पर जीव जन्म-मरण-लक्षण संसृति से मुक्त हो जाता है। श्रुति-कथन है; 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद्धनम्' (ईशवास्योपनिषद्-१) आत्मा का पालन त्याग के द्वारा करो; आत्मा का भी आरोपित नाश सम्भव है। देहादि के तादात्म्याभिमान के कारण आत्मा भी नाशवान प्रतीत होने लगता है तदपि भगवत्-संगति के इस नाशभ्रम का ही समूल नाश हो जाता है; सम्पूर्ण संसार से उपरत हो, एकान्तवास करते हुए, भगवत्-ध्यान परायण जन ही सम्पूर्ण द्वन्द्व-धर्म-विनिर्मुक्त, विनष्ट जन हैं।

'दीनं कुटुम्बं' अज्ञानकृत कुटुम्ब दीन है; संसार में सभी दीन हैं क्योंकि सदा कामनाएँ वृद्धिंगत होती हैं। 'दीना: डीङ्क्षये' धातु से बनता है; अर्थ है 'क्षीणदोषा:, क्षीण हो गये हैं दोष जिनके वे 'विहंगा:' अर्थात् हंस। हंस ही नीर-क्षीर-विवेक-निपुण है। स्वप्रकाश आत्मा का निर्णय कर लेने पर जीव के सम्पूर्ण दोष क्षीण हो जाते हैं। और वह नीर-क्षीर-विवेक-निपुण होकर परमहंस हो जाता है।

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाच: ॥

(१०.२१.१४)

अर्थात्, गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं, कि वृन्दावनधाम के विहंग मुनि हैं और द्रुम ही वेद हैं; उस द्रुम की विभिन्न शाखाएँ ही वेद की माध्यन्दिनी, काण्व, तैत्तिरीय, कौमुथी, गौतमी, नारायणीय, आरण्यक आदि विभिन्न शाखाएँ हैं। उस द्रुम के रुचिर पल्लव ही उपनिषद् भाग हैं। वे मुनिजन श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र का दर्शन करते हुए उनके मुख-नि:सृत वेणु-गीत का श्रवण कर रहे हैं। 'विंहगा इव भिक्षुचर्या चरन्ति' जैसे कथन से सर्वत्याग, सर्व-निरपेक्ष यत्र-तत्र प्राप्त

मधुकरी पर जीवन-निर्वाह करने वाले तपस्वी जनों का महत्त्व वर्णन किया गया है।

उनका यह अनुचरित है; 'आनुकूल्यं चरितं अनुचरितम्' वेद-वादी वेद-शास्त्र-परतंत्र हैं; तात्पर्य कि उनका मनमाना अर्थ नहीं किया जा सकता। 'यदेव शास्त्रं कथयति तदेव करोति।' 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥' (गीता १६.२३) अर्थात् शास्त्र-वचन का अनुसरण अनिवार्य कर्तव्य है; उससे विमुख होने पर न सुख मिलता है न शान्ति ही मिलती है और न सिद्धि ही मिलती है। 'शास्त्रैकदृष्टिर्भव' शास्त्र ही आँखें हैं। एकमात्र प्रभु ही सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं; 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता'। गोपाङ्गनाएँ कह रहीं हैं श्रीकृष्ण परम स्वतन्त्र हैं, 'भावै मनहि करहि सोइ सोई। परम स्वतंत्र न सिर पर कोई, हैं अतः उन्होंने हमारे साथ भी मनमाना व्यवहार किया। 'लोकहिताय कर्मणा' लोक-हितार्थ किया गया कर्म ही श्रेष्ठ होता है परन्तु श्रीकृष्ण तो लीला-लेखा, लीलामात्र करने वाले हैं। एतावता वे उस ओर से भी उदासीन हैं। उनका जीवन ही लीला है; सृष्टि-निर्माण, जीव-निर्माण परमेश्वर की लीला मात्र है; यह निर्माण ही भगवत्-सन्निधान का माध्यम है।

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि भगवतः सन्निधान के लिए—मुक्ति के लिए ही सृष्टि का निर्माण होता है तो संसार-निर्माण ही क्योंकर किया जाय? संसार-निर्माण न होने पर मुक्ति की भी अपेक्षा नहीं रहेगी। इस प्रश्न का समाधान यह है कि संसार अनादि है, बन्धन भी अनादि है। बौद्ध, जैन, शाक्त, वैष्णव, शैव, गाणपत्य, आस्तिक, नास्तिक सभी के बन्धन अनादि हैं। सृष्टि के न रहने पर भी जीव रहता है; महाप्रलय-काल का जीव से भी सम्बन्ध होता है। अतः उनके मुक्ति-हेतु सृष्टि-निर्माण अनिवार्य है। सृष्टि में आनन्द भी अनादि है; अनादि अविद्या माया रानी का संसर्ग भी आनन्द प्रदान करता है परन्तु वह आनन्द सावरण है। श्रुति-कथानुसार निरावरण आनन्द ही मुक्ति है और वही जीव का अन्तिम लक्ष्य है, परम पुरुषार्थ है।

प्रणयकोपवशात् ही राधारानी श्रीकृष्ण की लीलाओं को 'यदनुचरित' कह रही हैं। वे कहती हैं कि इन लीलाओं का जिसने रसास्वादन किया वे स्वयं भी दीन हो जाते हैं और दूसरों को भी दीन, भिक्षुक बना देते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं, 'रमा-बिलास राम अनुरागी। तजत वमन इव नर बड़ भागी।' वे 'बड़भागी' जन भी कथार्थ का त्याग नहीं कर पाते; वह उनका व्यसन हो जाता है।

स्थातुं त्वया विरहिता न च पारयाम।
पादौ पदं न चलतस्तवपादमूलात्॥

हे पद्मनाभ! आपका पाद-तल अरण्य-जन, वनवासी-जनों को प्रिय है, संसार-त्यागी महर्षि गण ही अरण्य-वासी लोग हैं।

इनकी लीला कथामृत सुनने वाले, स्निग्ध मन वाले स्वजन भी कठोर एवं निर्दय हो जाते हैं, कृतघ्न हो जाते हैं; वे स्वयं दीन बने दुःखी कुटुम्ब को बिलखता छोड़ कर चले जाते हैं। यहाँ तक कि मृत्यु को भी तिलाञ्जलि देकर चले जाते हैं। इतना ही नहीं, वे स्वयं भी 'दीना वनात् वनं भ्रमन्तः विहगा इव'। सर्व-त्यागी होकर पक्षियों की तरह एक वन से दूसरे वन में इतस्ततः भटकते रहते हैं। जिसने भी इनके कथामृत के एक बिन्दु को भी ग्रहण कर लिया वही सर्व-त्यागी संन्यासी हो जाता है। कृष्ण की यह कथा सुनने में ही ललित है। जैसे मछलियों को फँसाने के लिए काँटे में पिशित (मांस) लगा दिया जाता है वैसे ही यह पिशित रूप ललित मधुर कथामृत संसार के प्राणियों को फँसा कर उनमें वैराग्य उत्पन्न कर उनको भव-समुद्र में खींच लेता है। उक्त वचनों से कथामृत-लव-ग्रहण से वैराग्य-सम्पादन की स्तुति की गयी है।

यह कथामृत अत्यन्त दुस्त्यज है—

अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेरुहः।
न त्यजन्ति वयं तत्र कामस्मरवशा स्त्रियः॥

अर्थात्, वीतरागी, ब्रह्म-विद्-वरिष्ठ, सुमन-जन भी इस मनोहारी कथामृत का त्याग नहीं कर पाते तब हम अनुरागिणी स्त्रियाँ इसका त्याग कैसे कर पायेंगी? 'सुष्टु शोभनं मनो येषां ते सुमनसः' वीतरागी, भगवदाकाराकारित वृत्ति वाले ही सुमन हैं, शोभन मन वाले हैं। विनष्टाः प्रयोग का यहाँ 'अविनिष्टाः' अर्थ भी किया जाता है। एक टीकाकार कहते हैं, 'कृष्ण-चरित-कथालव' का पान कर्ता द्वन्द्व-धर्माविधूत हो जाता है अतः अविनष्ट हो जाता है। संसार ही द्वन्द्वधर्मा है; संसार में फँसा प्राणी ही विनष्ट है। जैसे विष-भक्षण करने वाला प्राणी नाश को प्राप्त होता है वैसे ही संसार में फँसा प्राणी भी नाश को प्राप्त होता है। विष तो खाने पर मृत्यु देता है परन्तु रमा-विलास तो ध्यान-मात्र से नाश का कारण बन जाता है।

कनक कनक तें सौ गुणा मादकता अधिकाय।
उन खाये बौरात है इन पाये बौराय॥

जैसे श्रवण-सुख में लिप्त हो कुरंग, स्पर्श-सुख में लिप्त हो मातंग और रूप-दर्शन सुख में लिप्त हो पतंग नाश को प्राप्त होता है वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध जन्य सुख में लिप्त प्राणी भी नष्ट हो जाता है। जो द्वन्द्व-धर्म-विधूत नहीं हैं, विषय रूप विष के भोग से नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

'विहङ्गा इव' वीतरागी ब्रह्मविद्-वरिष्ठ, सांसारिक सुख-साधनों से उपरत हो जाते हैं।

रात्रौ जानुः दिवा भानुः कृशानुः सन्धयोर्द्वयोः।
एवं शीतं मयानीतं जानु-भानु-कृशानुभिः॥

अर्थात्, ऐसे सर्वत्यागी जन रात में घुटने मोड़ कर, दिन के सूर्य-ताप से और प्रात:सायं अग्नि तापकर जाड़ा काट लेते हैं।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः।
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः॥

(वैराग्यशतक ५३)

अर्थात्, हम तो बल्कल से ही सन्तुष्ट हैं; आप लक्ष्मी से सन्तुष्ट हैं। परितोष दोनों में है परन्तु हम निर्विशेष ब्रह्म से भी विशिष्ट हैं। शंकराचार्य जी कहते हैं।

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तजीविनः॥

अर्थात्, चक्रवर्ती सम्राट् अथवा देवराज इन्द्र को भी वह सुख प्राप्त नहीं जो वीतरागी एकान्तवासी मुनि को प्राप्त है।

इस श्लोक की निवृत्ति-पक्षीय व्याख्या भी है। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं,—

यदनुचरितलीला कर्ण-पीयूष विप्रुट् सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माः
साधनमार्गमागताः प्रलये न कथयन्ति च।

अर्थात्, कथामृत-लव का पान करने वाले भी ब्रह्मसाधर्म्य को प्राप्त हो जाते हैं; वे प्रलय (मृत्यु) में भी भय नहीं मानते। जब कथामृत-पान-कर्ता की ऐसी महिमा है तो अनन्य शरणागत एकनिष्ठ बक्त की लोकोत्तर महिमा तो अवर्णनीय है। अथवा, ऐसे ज्ञानी-भक्त जन संसार से अदृष्ट रहते हैं; तात्पर्य कि ख्याति से दूर रहते हैं।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी स्यात् एतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

अर्थात् जो कुछ प्राप्त हो जाय उससे शरीर ढक ले, जो कुछ मिल जाय वह खाकर जीवन-निर्वाह कर ले, जहाँ जो स्थान प्राप्त हो जाय वहीं सो जाय यही यथार्थ वैराग्य है।

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्न पात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥

अर्थात्, जिसकी भुजाएँ ही उसके लिए तकिया हो, अञ्जलि की पात्र हो, धरती ही शय्या हो, दशो दिशाएँ ही वस्त्र हों वह इन सब को अन्यत्र क्यों खोजे। 'कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।' अर्थात् कान्तदर्शी तत्त्वविद् कवि लोग धन-मदान्ध जनों को नहीं भजते क्योंकि उनको कोई कामना नहीं रहती। उनको शरीर ढकने के लिए अपने से पहने हुए साधुओं के चीर मार्ग में पड़े मिल जाते हैं; उदरपूर्ति के लिए वृक्ष भिक्षा दे देते हैं।

तात्पर्य कि भगवती-कथामृत-लव से ऐसे सुदृढ़ वैराग्य का सम्पादन होता है। विदुर जी धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥

(भाग० १.१३.२५)

अर्थात्, जब शरीर से धर्म-कर्म नहीं बन पाता और न यश ही प्राप्त किया जा सकता हो, ऐसी स्थिति में कुटुम्बादि से विरक्त होकर देहाभिमान-शून्य होकर किसी को पता न चले ऐसी एकान्त जगह में जाकर जो शरीर-त्याग दे वही धीर है।

वल्लभाचार्य कहते हैं—भगवान् एवं उनकी कथा तो निर्दोष है तथापि गोपाङ्गनाएँ उनमें दोष-दर्शन कर रही हैं क्योंकि वे श्रीकृष्ण-संग के कारण मोहित, विवेक-शून्य हो रही हैं। व्यासादि महर्षियों ने तो उनके सम्पूर्ण चरित्र को अनुबद्ध किया; 'चरितम् अनुव्यासादिभिर्निबद्धम्' यही व्यवधान रूप हो गया। जैसे सूर्य की रश्मियों का प्रभाव वस्त्राच्छादित व्यक्ति पर भी पड़ता ही है वैसे ही भागवती-कथा श्रवण का प्रभाव महर्षिजनों पर भी पड़ता है और वे उससे मोहित हो जाते हैं। हम गोपाङ्गनाओं ने तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं; उनके संस्पर्श-सान्निध्यादि का भोग किया है; ऐसी स्थिति में हम मोहित हो जायँ तो क्या आश्चर्य!

यह कथा केवल वचन-स्मरणीय है यथार्थतः रमणीय नहीं है; तात्पर्य कि जैसे सिंहनी का दूध केवल सुवर्ण पात्र में ही रखा जा सकता है वैसे ही कथामृत-रस भी विरत व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकता है; माया-ग्रस्त विमूढ़ प्राणी इस कथामृत के एक बिन्दु को भी नहीं पचा सकता। 'बध्नाति तृष्णापाशेन इति बन्धुः' वाञ्छा, तृष्णा रूप डोर से बाँधने वाला ही बन्धु है। कथामृत-लवलेश का पान करने वाला रस-विमूढ़ ही स्नेह रूप डोर से बाँधने वाले सम्पूर्ण बान्धवों का त्याग कर चले जाते हैं। 'अदर्शनं गताः' बान्धवों को उनके दर्शन भी नहीं होते, वे विधूत द्वन्द्वधर्म हो जाते हैं।

बहुत लोग, बहुत बार कथा-श्रवण करते हैं परन्तु कथामृत का 'अदन' करना, पाचन करना ही फलदायी है। कथा-तत्त्व को यथार्थ में समझना और समझ कर मनन-ध्यान ही कथा का 'अदन' करना या पचाना है। इस कथामृत-अदन के कारण ही धुन्धुकारी को प्रेत-योनि से मुक्ति मिली। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, 'जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ि गई। जद्यपि मृषा छूटत कठिनई'। यथार्थ कथा-श्रवण का फल यही है कि जड़-चेतन की ग्रंथि छूट जाय।

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक उप० २.२.८)

अर्थात् कथा श्रवण-कर्ता की हृद्-ग्रन्थि, संशय एवं कर्मफल सब विनष्ट हो जाते हैं यदि वह उसका अदन करें; कथार्थ का मनन, निदिध्यासन करना ही उसका अदन करना है।

वल्लभाचार्यजी एक और विलक्षण बात कहते हैं। तदनुसार जो लौकिक एवं वैदिक दोनों मार्गों को त्याग कर पुष्टि मार्ग में दीक्षित हो जाय, दैन्य-व्रत धारण कर ले, उसके सम्पूर्ण कर्मफल विनष्ट हो जाते हैं। 'तस्मान्निश्चिन्ततां व्रजेत्' अतः वह सब ओर से निश्चिन्त हो जाता है। 'हरि की शरण जो आवै सर्वाश्रय छिरकावै।' सर्वाश्रय-त्याग ही भगवत्-सन्निधान संभव है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८.६६)

'बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति' ऐसे लोग विहंग, पक्षी की भाँति उड़ते रहते हैं। 'विहायसा गच्छन्ति इति विहंगा' अर्थात् वे लोग शब्द बल पर ही उड़ते हैं, भागवत-लीलाओं की कथा ही शब्द प्रमाण है। इस प्रमाण के आश्रय से, हरि नाम के आश्रय से बलवान् हो वे मुक्त हो उड़ते रहते हैं। भगवन्नाम भी आकाश का गुण है। व्यास-सूत्र है 'आकाश स्तल्लिंगात्' (१.१२२) इसके शाङ्करभाष्य में छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य उद्धृत है—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति, (छा० १.९.१)।

अर्थात्, आकाश में ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है, आकाश ही ब्रह्म है।

सब कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

यथार्थ में कथा-श्रवण-कर्ता 'चिदाकाशेन गच्छन्ति भूताकाशे विहायसा' भूताकाश से चिदाकाश में चला जाता है, तात्पर्य वह परमहंस हो जाता है। 'अदृशंगताः' उनके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं, वे ख्याति-कामना से उपरत हो जाते हैं, 'भिक्षूणां धर्मम् आचारं गृह्णन्ति इति भिक्षुचर्यां चरन्ति।' कथा-श्रवण के फल-स्वरूप वे गृह-त्यागी हो, भिक्षुओं के आचार धर्म को अपनाकर भिक्षु बन जाते हैं।

अन्य आचार्य द्वारा किया गया अर्थ सर्वथा भिन्न है। तदनुसार मानो मधुप कह रहा है कि हे राधारानी! जब यह कथा ही इतनी दुस्त्यज है तब मेरे गुण-गान करने पर आप इतना नाराज क्यों हो रही हैं? उत्तर देती हुई राधारानी कह रही हैं, हे मधुप! यह तो व्रजधाम है; यहाँ तो सभी लोग बड़े-बड़े विहंग, परमहंस जन भी उनका गुण-गान गोपेन्द्रकुमार, व्रजेन्द्र-नन्दन, गोपी-वल्लभ, राधा-रमण, राधा-वल्लभ आदि कह कर ही करते हैं। तुम तो उनको यदुपति, रुक्मिणी-वल्लभ आदि कह कर उनका गुण-गान कर रहे हो। अतः हम व्रजवासियों को तुम्हारा गान अभीष्ट नहीं। श्रीकृष्ण के पाँच स्वरूप मान्य हैं। द्वारिकानाथ, मथुरानाथ, व्रजेन्द्रनन्दन, वृन्दावन-चन्द्र तथा नित्य-निकुंजेश्वर, श्यामसुन्दर! ये पाँचों स्वरूप क्रमशः अन्तरंगतर हैं, अतः यदुपति मथुरानाथ-स्वरूप अपेक्षाकृत बहिरंग है। एतावता, राधारानी कह रही हैं कि हे मधुप! तेरा यह गान वराक-ध्वनि की भाँति कर्कश है; यहाँ तेरे यदुपति की कथा कोई नहीं सुनेगा, तात्पर्य कि वे भगवान् के अंतरंग-स्वरूप को भजने का ही उपदेश दे रही है।

वस्तुतः भ्रमर-गीत में केवल अनन्य निष्ठा का ही उपदेश है, भगवत्-चरित्र कथामृत श्रवण में व्यसन-तुल्य सुदृढ़ निष्ठा बन जाय, यही उक्त सब वचनों का आशय है, सार है।

१०

गोप्युवाच

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता॥

(भाग० १०.४७.१९)

अर्थात्, जैसे कृष्णसार मृग की पत्नियाँ भोली-भाली हरिणियाँ, व्याध के मधुर गान से विमुग्ध हो उसका विश्वास कर लेने के कारण उसके ही बाण से मारी जाती हैं वैसे ही हम व्रजाङ्गनाओं ने भी कृष्ण की मीठी-मीठी बातों में आकर उनका विश्वास कर लिया और उनके नख-स्पर्श-जन्य काम-व्याधि से मारी गयीं।

गोपाङ्गनाजन कह रही हैं, हे मधुप! जैसे हरिणियाँ, कृष्णसार मृग की पत्नियाँ हैं वैसे ही हम भी कृष्ण की वधू हैं; तात्पर्य कि जो भी कृष्ण की वधू हो उसकी ऐसी ही दशा होती है। हम तो कृष्ण के मधुर वचनों से ठगी गयी हैं। वे तो कहा करते थे कि 'न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां।' हे व्रजाङ्गनाओ, देवताओं की आयु पाकर भी हम तुम से उऋण नहीं हो सकते। मथुरा जाने के पूर्व भी उन्होंने शीघ्र ही लौटने का वादा किया था; मथुरा पहुँचने पर भी शीघ्र ही लौट आने का संदेश भेजा था। जैसे व्याध के सुमधुर गान से मुग्ध हरिणियाँ उसके वाणों से क्षत-विक्षत हो जाती हैं वैसे ही हम भी कृष्ण के वचनों से मुग्ध हो, उनके नख-स्पर्श से क्षत-विक्षत हो अद्भुत तीव्र स्मर से पीड़ित हो रही हैं।

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रकाम्' (भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० ६० उद्धृत तन्त्रवचन)। गोपाङ्गनाओं का विशुद्ध-प्रेम ही काम शब्द से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ सांग श्यामांग का समावेश हो वहाँ अनंग-प्रवेश का अवकाश ही नहीं रह जाता।

सनातन गोस्वामी सख्य-भाव के उपासक थे; उनकी टीकानुसार राधारानी प्रेमावेश में मूर्च्छित हैं। ऐसे समय पर मधुप वहाँ आकर गुनगुनाने लगता है।

प्रेम की दो अवस्थाएँ हैं—मूर्च्छा, अथवा जड़िमा एवं उन्माद! वृन्दावन में प्रेम का स्वरूप जड़िमा है। गोपाङ्गनाजन प्रेम की उन्मादावस्था हैं तथापि यदा-कदा उनमें भी वृन्दावन-धाम की अवस्था, जड़िमा आ जाती है। कृष्ण-कृष्ण रटते-रटते वे भी कृष्ण ही बन जाती हैं; वे क्षणे-क्षणे राधा, क्षणे-क्षणे कृष्ण पूर्णानुराग रससार-सरोवर की श्यामल कमल, गौराङ्गी कमलिनी बन जाती हैं; ये सब महाभाव की विभिन्न भाव-लहरियाँ हैं—

तथ्य यह है कि व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण को ब्रह्म ही जानती हैं। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं।

उमा राम सुभाव जिन जाना।
तेहि भजन तजि भाव न आना॥

महर्षि नारद ने भी अपराधी जयन्त को पुनः राम की ही शरण भेजा। जयन्त को संकोच हो रहा था; वह एक बार भगवान् राम का प्रभाव परखने आया था, अब स्वभाव-अनुभव करने जा रहा है। तब भी प्रभु दीनबन्धु थे, अब भी दीनबन्धु हैं।

दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ।
निज अपराध रिसाइ न काऊ॥

भाव-विभोर गोपाङ्गनाएँ कृष्ण-स्मरण मात्र से मूर्च्छित हो जाती हैं। यही रागानुगा प्रीति की विशेषता है; रागानुगा प्रीति ज्ञान-दशा नहीं अपितु ज्ञान, नियमादि से सर्वथा मुक्त भाव-दशा है।

राधारानी कह रही हैं, हे मधुप! इन नख-क्षतरूप स्मर-व्याधि के चिकित्सक तो स्वयं श्यामसुन्दर ही हैं तथापि वे हमको छोड़कर चले गये अतः अब तुम उनकी चर्चा न करो। हे उद्धव! तुम उनके उपमन्त्री हो, सखा हो एवं अन्तरंग रहस्य के ज्ञाता भी हो; तुम अब उनकी चर्चा न कर और कोई वार्ता करो। राधारानी की उक्त उक्तियाँ काव्यालंकार अनुसार 'जिह्म' हैं, अर्थात् आजल्प नामक चित्रोक्ति हैं।

श्रौत-पक्षानुसार इस श्लोक में आत्मा-अनात्मा के अन्योन्याध्यास का विचार है। जीवात्मा को मूल अथवा प्रधाना प्रकृति के संसर्ग से मुक्त कर परमेश्वरोन्मुखी बना देना ही श्रुतियों का एकमात्र लक्ष्य है। प्रभु के ध्यान से संसार समाप्त हो जाता है; विषयों से विरत हो वेदों का ब्रह्म में समन्वय करना ही साधन है; ऐसी साधना करने से ही प्राणी के ज्ञान-विज्ञान में स्थिरता आती है और उनका निःश्रेयस कल्याण निस्संदिग्ध हो जाता है।

'अत्रैव हि मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' यदि मधु घर में ही मिल जाय तो उसकी खोज में पहाड़ों पर क्यों जाया जाय? तात्पर्य कि ऐसा अविचार पूर्ण परिश्रम निरर्थक है। वेद का कथन है, 'अक्षय ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति' (शतपथ० २.६.३.१) चातुर्मास यज्ञ करने वाले का सुकृत अक्षय होता है। 'अपाम सोमममृतां अभूम' (ऋग्० ८.४८.३) ज्योतिष्टोम यज्ञ कर-कर हमने सोमरस-पान किया, हम अमृत हो गये। वेदों में स्वर्ग की परिभाषा है। श्लोकवार्तिककार पूर्व-पक्ष में कहते हैं;

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वपदास्पदम्॥

अर्थात् जिस सुख में दुःख की मिलावट न हो, जिस सुख के बाद दुःख न प्राप्त हो किन्तु एक सुख के बाद दूसरा सुख, दूसरे के बाद तीसरा सुख, इस तरह सुख की अटूट परम्परा लगी रहे और जो सुख इच्छा मात्र से प्राप्त हो जाय, जिसके लिए प्रयास न करना पड़े ऐसा सुख ही स्वर्ग है। श्रुतिरूपी गोपाङ्गनाएँ कहती हैं, 'जिह्म व्याहृतं श्रद्दधानाः' छल पूर्ण उक्तियों में श्रद्धा रखने वाले, वेद-वेदान्त एवं उपनिषदों को न जानने वाले अज्ञ-कर्मकाण्डी ही इस तरह की असंगत बातें करते हैं। 'यत्कृतकं तदनित्यं' जो कृतक है वह अनित्य है। तद्यथेह कर्मजितो लोकःक्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० ८.१.६)। अर्थात् जैसे इस लोक की सम्पूर्ण वस्तु नष्ट हो जाती है वैसे ही पुण्य-सम्पादित सम्पूर्ण फल, इन्द्रादि पद-प्राप्ति भी अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।' (गीता ८.१६) भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे अर्जुन! इन्द्रलोक पहुँच कर भी प्राणी पुनः लौट आता है। अतः वास्तविक अमृत वही है दो सदा-सर्वदा स्थिर रहे।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २.४२-४४)

अर्थात्, हे अर्जुन! जो सकामी पुरुष केवल फल श्रुति में प्रीति रखने वाले हैं, स्वर्ग-प्राप्ति को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले हैं एवं उनको ही सर्वाधिक समझने वाले हैं, ऐसे अविवेकी जन जन्मरूप कर्म-फल को देने वाली और भोग तथा

ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली जिस बाह्यत: शोभायुक्त वाणी को कहते हैं, उस वाणी द्वारा भ्रमित तथा भोग एवं ऐश्वर्य में आसक्त हो निश्चयात्मक बुद्धि से रहित हो जाते हैं।

उक्त प्रकार के वचन (केवल फलश्रुति में प्रीति रखने वाले) कहने वाले स्वयं कामात्मा हैं—उनको इन वाणियों का अर्थ पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं। क्रिया-विशेष-बहुला, जन्म-कर्म-रूप फल प्रदान करने वाली वाणियों की आराधना में संलग्न प्राणी उनके यथार्थ को नहीं समझ पाते क्योंकि इनका आपातत: प्रतीयमान अर्थ अन्यत्र ही होता है।

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥

(भाग १०.८७.३६)

अर्थात्, जैसे मिट्टी से बना हुआ घड़ा भी मिट्टी रूप ही होता है वैसे ही सत्-निर्मित जगत् भी सत् ही है यह कथन युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि कार्य-कारण का निर्देश ही उनके भेद का द्योतक है। केवल भेद का निषेध करने के लिए भी ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैसे पिता एवं पुत्र अथवा दण्ड एवं घटनाश में कार्य-कारण भाव होने पर भी वे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार कार्य-कारण की एकता सर्वत्र नहीं देखी जाती। यदि कारण शब्द से निमित्त-कारण न लेकर केवल उपादान-कारण लिया जाय, जैसे कुण्डल का सोना, तो भी कहीं-कहीं कार्य की असत्यता प्रमाणित होती है जैसे रज्जु में सर्व-भावना। यहाँ उपादान-कारण के सत्य होने पर भी उसका कार्य सर्प-स्वरूप सर्वथा असत्य है। यदि कहा जाय कि प्रतीत होने वाले सर्प का कारण केवल मात्र रज्जु ही नहीं है अपितु उसके साथ अविद्या का, भ्रम का मेल भी है तो यह समझना चाहिए कि अविद्या और सत् के संयोग से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है। एतावता जैसे रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या है वैसे ही सत् में अविद्या के संयोग से प्रतीत होने वाला नामरूपात्मक जगत् भी मिथ्या है। यदि केवल व्यवहार-सिद्धि के लिए जगत् की सत्ता स्वीकार हो तो यह अन्धपराम्परा मात्र ही होगी क्योंकि संस्कारजन्य भ्रम, संस्कार-सिद्धि के लिए पूर्व प्रतीति मात्र की ही अपेक्षा रहती है परमार्थ सत् की प्रतीति की नहीं। यदि परमार्थसत् की प्रतीति की अपेक्षा रखता तो ब्रह्मव्यतिरिक्त की सत्ता भी श्रुत होती। 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति अन्य सब का बाध कर केवल परमार्थ सत् का ही

निरूपण कर रही है।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥

(भाग १०.८७.३७)

गोपाङ्गना-रूपा श्रुतियाँ कह रही हैं, हे जीवात्मन्! ऐसे जिह्मव्याहृत छद्म-वचन प्रलोभन मात्र हैं। जैसे कोई माँ अपने बीमार बच्चे को दवा पिलाने के पहले अनेक प्रलोभन देती है वैसे ही वेद भी जीवात्मा के कल्याण के लिए ही विभिन्न पुण्य-जन्य अनेकानेक फलश्रुतियों का प्रलोभन देकर उन्हें परमेश्वरोन्मुख ही बनाना चाहते हैं। जैसे जिह्मकथनों का मुख्य उद्देश्य प्राणी को अनाचार से मुक्त कर ब्रह्म-चिन्तन की ओर अग्रसर करना ही है। ये छद्म-वचन लाभकारक भी हैं यदि इनके सार-तत्त्व को समझा जाय। कर्म-काण्डादि साधन मात्र हैं। इस तथ्य को न समझने पर ही जीव नाद-मुग्ध हरिणियों की भाँति हत हो जाते हैं। इन जिह्म-वचनों के सार-तत्त्व को समझने पर ही कर्म-काण्डादि का बाध कर जीवात्मा उच्च स्थिति को प्राप्त हो सकता है।

'नख-स्पर्श-तीव्र-स्मररुजः खं' अर्थात् आकाश लक्षण श्रोत्रः; 'खानि' बहुवचन प्रयोग है; 'खानि श्रोत्रोपलक्षितानि सर्वाणि इन्द्रियाणि' श्रोत्र उपलक्षित शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि सम्पूर्ण इन्द्रियों के तीव्र विषय ही त्याज्य हैं। तू इनका स्पर्श न कर! क्योंकि—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७.२३)

ऐसे अल्पबुद्धि वालों (सकामी भक्तों) का वह फल नाशवान है; तथा वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं। मेरे भक्त चाहे जैसे भी भजें, मुझको ही प्राप्त होते हैं।

'मीयन्ते ज्ञायन्ते शब्दाद्या विषया आभिः इति मात्राः इन्द्रियाणि।' अर्थात् इन्द्रियाँ विषय-मात्र हैं। इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क ही दुःखदायी है; बुद्ध-प्राणी इन में रमण नहीं करता। 'नखानां इन्द्रियाणां स्पर्शः' इनके सम्बन्ध से होने वाला स्मर, इच्छा, काम, वासना ही 'रुज' (रोग) पीड़ा है। कामना का नाश नहीं होता अतः कामना ही सर्वातिशय दुःख है। भक्तराज प्रह्लाद वरदान माँग रहे हैं;

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(भाग० ७.१०.७)

अर्थात्, हे ईश! कामना ही व्याधि है अतः यदि वरदान देना ही हो तो कामनांकुर को ही समाप्त कर दो। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९.२१) पुण्य के क्षीण होने पर स्वर्गगामी प्राणी पुनः मृत्युलोक में आ जाता है। 'इतः पत' 'स्वर्ग से जाओ' ऐसा शब्द सुनकर उस प्राणी को अत्यन्त तीव्र ताप होता है; उस ताप से वह बर्फ की तरह पिघल जाता है। देवताओं का शरीर स्थूल हाड़-मांस-चाम का न होकर सोमात्मक होता है। कठोर शब्द-श्रवण से उनका सोमात्मक शरीर पिघल कर बादल रूप बन जाते हैं; बादलों से वर्षा होती है; वर्षा से जौ आदि अन्न उत्पन्न होता है; वह अन्न स्त्री-पुरुषों के उदर में जाकर कालान्तर में रक्त, शुक्र-शोणित बनता है; तदनन्तर गर्भ में उत्पन्न होता है। अतः हे जीवात्मन्! तू इन फलश्रुति रूप प्रलोभनकारी मधुर जिह्म-वाक्यों के, छद्म-वाक्यों के फेर में न पड़ कर इनके यथार्थ को समझ कर उसका तात्पर्य ग्रहण कर अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार कर; परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर तू इस जन्म-मरण-लक्षणा संसृति (संसार) से मुक्त हो जावेगा।

११

गोप्युवाच

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं॥
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥

(भाग० १०.४७.२०)

अर्थात्, हे प्रिय सखा मधुप! क्या तुम हमारे प्रियतम के द्वारा पुनः प्रेरित हो लौट आये हो? तुम तो सब प्रकार से हमारे माननीय हो। कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है? क्या तुम सत्य ही हम लोगों को उनके पास ले जाना चाहते हो; वहाँ पहुँचकर लौटना भी बहुत कठिन है; वहाँ जाकर भी हम क्या करेंगी? वहाँ तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी सदा ही उनके वक्षस्थल पर विराजमान रहती हैं। वहाँ हमारा निर्वाह क्यों कर हो सकेगा!

'गीत-गोविन्द' काव्य में कलहान्तरिता नायिका के रूप में राधारानी का वर्णन है; वे मानिनी हो रही हैं; कृष्ण उनका मान मनाते हुए विनय कर रहे हैं; तथापि राधारानी प्रसन्न नहीं हो रही हैं। अतः कृष्ण चले जाते हैं उनके चले जाने पर राधारानी संताप कर रही हैं; वे तो बहुत अच्छे हैं, दोष हमारा ही है, वे तो विनय कर रहे थे, मैं ही मान भरी रही; मुझको मान लेना चाहिए था। उक्त पद में भी राधारानी का कलहान्तरिता नायिका जैसी स्थिति में ही वर्णन है। मधुप से बात करती हुई वे मूर्च्छित हो जाती हैं; मूर्च्छा-भंग होने पर उनको पश्चात्ताप होता है और वे भ्रमर की प्रतीक्षा करने लगती हैं। सम्भवतः भ्रमर कुछ दूर चला गया है अथवा प्रेमोन्माद में निमग्न उनको ऐसी प्रतीति होती है। इतने में ही भ्रमर पुनः दृष्टिगोचर होता है और वे उससे कहने लगती हैं 'प्रिय सखा पुनरागाः, प्रियस्य सखा।' हे भ्रमर! तुम हमारे प्रियतम के सखा हो अतः 'माननीयोऽसि' अतः तुम हमारे लिए माननीय हो। तुम उनके अन्तरंग सखा हो इसलिए तो उन्होंने तुमको भेजा है; साथ ही, तुम उनके हो, भगवदीय अंश हो

अत: महामहिम हो। भगवद्-दर्शन बहुत दुर्लभ है; उनके भक्तों के दर्शन भी हरि-कृपा पर ही आधारित हैं;

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता' संत-दर्शन की बड़ी महिमा है;

नयनन संत दरस नहीं देखा।
लोचन मोर पंख सम लेखा॥

क्योंकि—

मुद मंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथराजू॥
बिनु संतसंग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला।
सोइ फल सिधि सब साधन कूला॥

राधारानी श्रीकृष्ण के प्रिय सखा मधुप के दर्शन को श्रेष्ठ भी मान रही हैं और प्रसन्न होकर आशीर्वाद भी दे रही हैं। वे कह रही हैं, 'हे भ्रमर! तुम प्रियदर्शी भी हो, शिष्ट भी हो। तुमने हमारे कटु वचनों को क्षमा कर दिया है; कृष्ण से उनकी चर्चा नहीं की। अथवा तुम उन तक न जाकर रास्ते से ही लौट आये हो? 'अनिष्टा शङ्कितानि हि सुहृदां चेतांसि।' सुहृदों के चित्त स्वभावत: ही अनिष्ट की शंका से भरे रहते हैं। प्रभु के प्रति ऐसी भावनाएँ मनोराज्य नहीं हैं; मनोराज्य निरर्थक होता है परन्तु प्रभु-सम्बन्धी चिन्तन निरर्थक नहीं होता। ऐसी भावनाओं के कालान्तर में साकार हो जाने पर भगवत्-साक्षात्कार सम्भव हो जाता है।

चैतन्य महाप्रभु भी प्रेमोन्माद में नीलाचल जगन्नाथपुरी में समुद्रदर्शन में श्यामसुन्दर की भावना कर उनके आलिंगन हेतु समुद्र में दौड़ गये थे।

'प्रेयसा प्रेषित: किम्' क्या तुमको हमारे प्रेयान् ने भेजा है? 'वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग' हे अङ्ग! तुम हमारे लिए माननीय हो; वर माँगो। उत्तर देते हुए मानो मधुप कह रहा है, वह वर तो बाद में माँगेंगे पहले स्वामी का कार्य कर लें। आप प्रसन्न हों, खेदमुक्त हो कर हमारे साथ मथुरा चलें। आप दोनों का सम्मिलित दर्शन ही हमारा अभीष्ट है।' उच्चकोटि के भक्त जन तो मोक्ष भी नहीं चाहते; राधाकृष्ण का सम्मिलित दर्शन ही उनको अभीष्ट है।

ऐसी भी अनेक गोपाङ्गनाएँ हैं जो कृष्ण को कान्त-भाव से नहीं भजतीं। ये राधारानी की प्रिय सखियाँ हैं। उनका सुख ही इनका सुख है; उनका इष्ट ही इनका इष्ट है। ऋषिगण भी भगवत्-साक्षात्कार की कामना करते हैं; राधारानी

भी श्रीकृष्ण-सम्मिलन की कामना करती हैं; परन्तु उक्त गोपाङ्गनाएँ तो राधा-कृष्ण-सम्मिलनजन्य सुख की ही स्पृहा रखती हैं। गौर-तेज सम्बलित श्याम तेज एवं श्याम तेज सम्बलित गौर तेज की वन्दना ही इनकी एकमात्र आकांक्षा है। यह स्थिति तत्-सुख-सुखित्व-भाव परिपूर्ण है। शुद्ध प्रेम की, त्याग की पराकाष्ठा है। कहा भी गया है,

गौरतेजः परित्यज्य श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद् वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे॥

अर्थात्, गौर तेज का परित्याग कर केवल श्याम तेज की आराधना करने वाला पातकी हो जाता है। अतः रसिक भ्रमर भी राधा-कृष्ण के सम्मिलन-जन्य सुख-दर्शन की ही कामना करता है।

राधारानी मानिनी हैं; वे मथुरा नहीं जातीं। रासलीला प्रसंग में वर्णन है।

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥

(भाग० १०.३०.३८)

मानिनी का वाम्य ही उनका धर्म है अतः वे नायक की इच्छा का अनुसरण नहीं करतीं; उच्चकोटि का भक्त भगवान् को अपने पास ही बुलाता है। राधारानी के 'नय मां यत्र ते मनः' आप मुझे जहाँ ले जाना चाहते हों वहाँ ले चलें' जैसे विपरीत-धर्मा वचन कहते ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये।

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥

(भाग० १०.३०.३९)

राधारानी कह रही हैं, हे मधुप! हम मथुरा क्यों चलें? वहाँ तो श्रीकृष्ण हमारी सपत्नियों से घिरे रहेंगे। मधुप उत्तर दे रहा है, 'जैसे सूर्य के उदित होते ही नक्षत्र छिप जाते हैं वैसे ही आप के पहुँच जाने पर रुक्मिणी आदि पटरानियाँ भी छिप जायेंगी।

श्रीकृष्ण सम्पूर्ण संसार को त्याग कर केवल राधा का ही ध्यान करते हैं। राधा रानी पुनः शंका करती हैं कि लक्ष्मी तो सदा उनके वक्षस्थल पर विराजती हैं। उनके वक्षस्थल पर सुवर्ण-वर्ण रोमराजि ही लक्ष्मी हैं। 'दुस्त्यजद्वन्द्व-पार्श्वम्' उनका सन्निधान तो कदापि दाम्पत्य-विहीन होता ही नहीं। यह प्रेमावेश की एक उत्कृष्ट दशा है जिसको शृंगार-रस शास्त्रानुसार विपरीत रति कहा गया है। पुरुषायिता नायिका अपने प्रियतम के वक्षस्थल पर विहार करती है;

प्रियतम-हृदये वा खेलतु प्रेम-रीत्या।
पदयुग-परिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरति विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ।
ननु भजन-विधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्याद्॥

अर्थात्, जैसे प्रेयसी का प्रेमपूर्वक प्रेयान् के वक्षस्थल पर विहार करना अथवा प्रिय द्वारा प्रेयसी के चरण-युगल की सेवा करना, दोनों ही समान रूप से उचित है, वैसे ही ज्ञानी का भगवत्-भजन करना अथवा निर्गुण-निराकार ब्रह्म में स्थित हो जाना, दोनों ही समान रूप से स्तुत्य है। भक्तमानस की प्रत्येक भावावस्था भक्ति ही है। 'सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' जैसे कोई साध्वी स्त्री अपनी सेवा से अपने सत् पति को वश में कर लेती है वैसे ही भक्त भी भगवान् को अपने वश में कर लेता है; भगवान् भक्त-परवश हैं। भक्त-परवश हो भगवान् भक्त बन जाते हैं। भक्त भगवान् बन जाता है; यही प्रेमावेग-जन्य विपरीत रति दशा है। संत रैदास कहते हैं—

तुम हम बाँधे मोह पाश, हम बाँधे तुम प्रेम पाश।
हम छूटे तुम आराधे, अपने छूटन को जतन करावो॥

'सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते' श्रीलक्ष्मी सदा ही सुवर्ण-वर्ण रोम-राजि स्वरूप में भगवान् के वक्षस्थल पर विराजमान रहती हैं। लक्ष्मी तो देवी हैं, वे समयानुसार रेखा अथवा वधू रूप में विराजमान होती हैं; उनका सन्निधान कदापि दाम्पत्य-विहीन नहीं होता, अतः हे मधुप! तुम श्रीकृष्ण को यहीं लिवा लावो। वहाँ तो 'साकमास्ते' हमारी सपत्नी लक्ष्मी भगवान् के वक्षःस्थल रूप तमाल-पल्लव पर सुनहरी तितली अथवा नील-नीरधर में विद्युत्-वत् निर्विघ्न संयोगिनी हैं। केवल व्रजधाम में उनका ऐसा प्रभाव नहीं है। 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।' (१०.३१.१) व्रजधाम में ऐश्वर्य-शक्ति का नहीं अपितु माधुर्य-शक्ति का ही प्राधान्य है। भक्तों के रोम-रोम में साङ्ग-श्यामाङ्ग का समावेश हो जाने पर ज्ञान-वैराग्य महत्त्वहीन हो जाते हैं। रागानुगा स्वभाविकी प्रीति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

उक्त श्लोक का श्रौत-पक्षीय अर्थ है; श्रुतियाँ कह रही हैं, 'प्रिय सख पुनरागः प्रेयसा' हे जीव! तुम हमारे प्रेयान् परमात्मा के प्रिय सखा हो; परमात्मा और जीवात्मा में सख्य-सम्बन्ध है; परमात्मा सर्वज्ञ पालक सखा और जीवात्मा अल्पज्ञ बालक सखा। 'त्वमेकं परमात्मानं वरय'। एकमात्र परमात्मा ही तुम्हारा वरेण्य है। 'तं परमात्मानं वरय' तुम परमात्मा का ही वरण करो। जैसे कोई अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का वरण करता है वैसे ही जीव भी परमात्मा को

रक्षकरूप में, आश्रयरूप में वरण करे। 'किमनुरुन्धे' परमात्मा से भिन्न अन्य क्या वरणीय है? अथवा आराधनीय है? 'माननीयोऽसि मेऽङ्ग' हे जीवात्मन्! तुम हम श्रुतियों के माननीय हो। तात्पर्य कि तुम ही वेद-विज्ञान के अधिकारी हो। मानव-जन्म में ही भगवत्-भजन सम्भव है; मानवेतर सम्पूर्ण योनियाँ तो केवल भोग-योनि हैं। 'दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वे' अतः अपने मन को दुस्त्यज द्वन्द्वों से मुक्त कर लो। संसार ही दुस्त्यज, द्वन्द्व पार्श्व है। 'कथम् अस्मात् नमसि' द्वन्द्व-प्रधान मन हम श्रुतियों में क्योंकर प्रवृत्त हो सकता है। 'द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः' (गीता ७.२८) द्वन्द्व और मोहपाश से विनिर्मुक्त होकर ही दृढ़वती मेरा भजन करते हैं। द्वन्द्व-मोह से विनिर्मुक्त चित्त से ही यथार्थ भजन सम्भव हो सकता है। भगवद्-वरण, भगवत्-शरण से ही प्राणी द्वन्द्व-मोह विनिर्मुक्त हो सकता है। यदा-कदा माया धर्म का, दया का रूप भी धारण कर लेती है; भगवदनुराग, भगवत्शरणागति ही उससे बच निकलने का एकमात्र उपाय है।

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गीता ७.१४) भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, जो मेरी शरण आता है उसको मैं माया से तार देता हूँ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८.६२)

अर्थात्, हे अर्जुन! तुम सर्व-भाव से मेरी शरण ग्रहण करो; शरणागतभाव के अनुग्रह से ही तुम सतत शान्ति को प्राप्त हो जाओगे।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

भगवान् ही माता-पिता हैं, बन्धु-बान्धव हैं; वे ही विद्या हैं; वे ही आराध्य हैं; वे ही सर्व-स्वरूप सर्वस्व हैं। भगवत्-शरण-ग्रहण कर प्राणी सर्व-द्वन्द्व-मोह-विनिर्मुक्त हो जाता है।

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा।
जिमि हरि शरण न एकौ बाधा॥

जैसे थोड़े जल में मछली व्याकुल हो जाती है परन्तु अगाध जल में परम सुखी हो जाती है वैसे ही जीव भी अखंड, अनन्त प्रभु की शरणागति को स्वीकार कर परम सुखी, सर्व-भय-शून्य हो जाता है।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(भाग० २.३.१०)

प्रभु-शरणागति स्वीकार करने पर बाधिका माया भी साधिका बन जाती है; भोग एवं मोक्ष दोनों का सम्पादन होता है।

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥

(भाग० २.७.५३)

मायापति के साथ माया का वर्णन करने से माया-जन्य मोह से प्राणी विनिर्मुक्त हो जाता है। अतः श्रुतियाँ जीव मात्र के लिए भगवत्-चरण-शरण भगवत्-शरणागति ग्रहण का बार-बार उपदेश करती हैं।

१२

गोप्युवाच

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥

(भाग० १०.४७.२१)

अर्थात्, हे मधुप! यह बताओ कि आर्यपुत्र मधुपुरी में लौटकर सुखी तो हैं। क्या वे कभी अपने पिता के घर की, नन्द बाबा और यशोदा मैया की याद करते हैं? क्या कभी वे हम दासियों की भी कोई चर्चा करते हैं? हे मधुप! इतना और बता दो कि क्या वे कभी अपनी अगरु आदि दिव्य सुगन्धों से सुगन्धित भुजाओं को हमारे सिर पर धारण करेंगे।

व्रजसीमन्तनी जनों की मूर्धन्या राधारानी श्रीकृष्ण के सखा एवं संदेश-वाहक उद्धव को देखकर प्रणय-कोप का अनुभव कर रही हैं। रस-ग्रंथों में इसको महाभाव कहा गया है। महाभाव की भी विभिन्न स्थितियाँ हैं—मादनाख्य, अधिरूढ़ एवं मोहनाख्य। मोहनाख्य महाभाव की सर्वोच्च भावावस्था है। इस भावावस्था की ही एक दशा वैचित्री अवस्था है; यह दिव्य-दशा है, अत: इसको दिव्योन्माद कहा जाता है। इसमें असंगति अलंकार ही प्रधान रहता है। 'राधा-सुधा-निधि' का वचन है—

अङ्के स्थितेऽपि दीयते किमपि प्रलापं।
हा मोहनेति मधुरं विदधात्यकस्मात्॥

श्रीकृष्ण के अंक में स्थित होने पर भी राधारानी उनके वियोग का ही अनुभव कर रही हैं—यह वैचित्री मोहनाख्य महाभाव का उल्लास विशेष है। उद्धव मधुप को देखकर राधारानी में चित्र-जल्प, विजल्प, प्रजल्प, अवजल्प, उज्जल्प, परिजल्प, सुजल्प आदि अनेक भाव-स्वेद उद्‌बुद्‌ध होते हैं। स्वाभावोक्ति होने के कारण ही ये गीत इतने मधुर एवं प्रभावशाली हैं। गोपाङ्गनाओं को गीत की रचना अभीष्ट नहीं थी; वे तो श्रीकृष्ण-वियोग जन्य

अपने संताप का ही वर्णन कर रही थीं। यथेष्ट के वर्णन में छंद-पिंगल सहित काव्य एवं राग-रागिनियाँ स्वयं धन्य होने के लिए समाविष्ट हो जाते हैं। गोपाङ्गनाएँ ग्राम्या हैं, गोष्ठ-निवासिनी हैं अतः उनमें बनावट नहीं है; वे तो स्वभावतः सद्भाव-सदाचार पूर्ण थीं।

वे मधुप से प्रश्न कर रही हैं; 'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते' हे मधुप! यह तो बताओ कि आर्यपुत्र कहाँ हैं? क्या वे मधुपुरी में हैं? हमने सुना है कि उनका उपनयन-संस्कार हो गया है और वे गुरु सांदीपनि के यहाँ उज्जयिनी चले गये हैं। यह भी बताओ कि वे सुख से तो हैं?

'आर्यपुत्र' सम्बोधन पति के लिए ही किया जाता है, इसके अनेक उदाहरण अन्यत्र मिलते हैं। 'उत्तर रामचरित', 'कुन्दमाला' एवं 'वाल्मीकि रामायण' में भगवती सीता द्वारा राम के प्रति 'आर्यपुत्र' सम्बोधन अनेक बार किया गया है। गोपाङ्गनाओं की प्रीति तत्-सुख-सुखित्व-भाव प्रधान थी अतः वे यही पूछती हैं कि हमारे परम प्रेमास्पद श्रीकृष्ण सुखपूर्वक तो हैं?

उनका दूसरा प्रश्न गम्भीर है; वे पूछ रही हैं क्या हमारे आर्यपुत्र अपने पितृ-गृह का भी कभी स्मरण करते हैं? 'आर्य' शब्द का एक अर्थ आर्जव, सरल स्वभाव वाला भी होता है। अकुटिल, छल-छद्म-रहित, जिह्म-रहित ही आर्जव है। नन्दबाबा परम आर्य हैं, वे इतने सरल हैं इसीलिए वे श्रीकृष्ण की बातों में आकर उनको मधुपुरी छोड़ आये अन्यथा अन्य कोई भी व्यक्तियों अपने पुत्र को छोड़ नहीं आता है। नन्द-गेहिनी,यशोदा रानी भी ऐसी ही सरल चित्त हैं जो अक्रूर के कहने पर अपने दोनों पुत्रों को उनके साथ भेज दिया। आर्य नन्द बड़े ऋजु हैं, आर्जव स्वभाव वाले हैं; उनके पुत्र श्यामसुन्दर भी उन्हीं की भाँति सरल-हृदय हैं अतः वे भी मधुपुरी में वसुदेव-देवकी की बातों को मानकर वहाँ के दुःखों को भी सुख मान बैठे हैं। फिर भी क्या वे अपने माता-पिता, यशोदा मैया और नन्दबाबा के नेह-गेहको कभी याद करते हैं। शायद वे सोचते हों कि जब नन्दबाबा हमें लिवाने नहीं आये तो हम कैसे जाएँ?

'सौम्य बन्धूंश्च गोपान्' क्या वे अपने बालसखा श्रीदामा, मनसुखा, आदिकों को भी कभी याद करते हैं? अब तक तो राधारानी अपना प्रणयकोप ही व्यक्त कर रही थीं परन्तु अब वे अपनी चर्चा भी नहीं करतीं; माता-पिता एवं बन्धुजनों की ही चर्चा करती हैं। उनके कथन की उग्रता समाप्त हो गयी; अब उनके कथन में उत्कंठा, गम्भीरता, आर्जव और मधुरता आ गयी है।

दैन्य प्रकट करती हुई वे कह रही हैं, 'क्वचिदपि स कथां नः किङ्करीणां गृणीते' क्या कभी वे हम दासी-जनों की भी याद करते हैं। किंकरीं शब्द निम्न स्तरीय सेवा करने वाली दासियों के लिए ही प्रयुक्त होता है। वे कह रही हैं

हे मधुप! यह भी बताओ कि क्या श्रीकृष्ण ताम्बूल, चित्र-निर्माण, कला-कौशल, वादित्र-नृत्य-गीतादि किसी भी प्रसंग से हम किंकरी जनों को याद करते हैं? तात्पर्य यह कि संगीत साकार केवल वृन्दावन में गोपाङ्गना जनों में ही है। अतः वे पूछती हैं कि मधुपुरी की स्त्रियों में विभिन्न कलाओं को देखकर उनके सम्बन्ध से भी क्यों कभी वे हमारी भी चर्चा करते हैं?

उक्त श्लोक के चार पद हैं; पहले पाद में आर्जव, दूसरे में गाम्भीर्य, तीसरे में दैन्य की अभिव्यञ्जना के अनन्तर चतुर्थ में उत्कण्ठा अभिव्यञ्जित हुई है। उत्कंठा से धैर्य-भंग हो जाता है अतः कुछ चापल्य भी आ जाता है। अब उनका कथन चापल्य प्रभावित है; वे कह रही हैं।

भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु।

हे मधुप! क्या वे अगरु आदि सुगन्धित अथवा स्वभावतः चन्दनादि से कोटि गुण्य अधिक सुगन्धित अपनी भुजाओं को कभी हमारे सिर पर पुनः स्थापित करेंगे? तात्पर्य कि क्या वे हमारे साथ पुनः रास रचायेंगे? यह परिष्कृत भाव ही सुजल्प है।

वस्तुतस्तु यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां।
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः॥

(भाग० १०.३२.२२)

हे गोपाङ्गनाओं! यदि देवताओं की आयु भी हमको प्राप्त हो जाय तो भी हम तुम्हारे प्रेम का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं।

एक दशा यह भी है कि भगवान् का अनुग्रह लोकवेद-परिनिष्ठित मति का निवारण कर देता है। 'कण्टकेन कण्टकोद्धारः' न्याय से पाशविक काम-कर्म-ज्ञान का उन्मूलन वैदिक काम-कर्म-ज्ञान द्वारा किया जाता है। वेद-रीति से लौकिकता-निवारण हो जाती है। तदनन्तर जैसे नदी पार कर लेने पर उसके माध्यम नौका का त्याग कर दिया जाता है, वैसे ही वेद-रीति रूप नाव से पाशविक काम-कर्म-ज्ञान नदी को पार कर ब्रह्म-निष्ठा को प्राप्त कर लेने पर वेद-रीति रूप नाव की अपेक्षा नहीं रहती। तात्पर्य कि अधर्म को त्यागकर ब्रह्म-निष्ठता का सम्पादन होता है।

भगवान् के वचन हैं कि जिस भाव से जीव मुझको भजता है उसी भाव से मैं भी उसको भजता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४.११)

तथापि, शंका की जाती है कि भक्त अनन्य होता है, भगवान् अनन्य नहीं हो सकते क्योंकि 'जीव अनेक एक श्रीकंता।' वे एक जीव में अनन्य कैसे हो सकते हैं? वे रसिक हैं परन्तु अनन्य नहीं। वस्तुतः तो 'प्रीति की रीति रंगीलो ही जाने' वे ही एकमात्र प्रीति की रीति को जानते हैं। भावयोग परिभावित हृदय-कमल में ही भगवान् सदा विराजमान होते हैं। प्रभु के अनन्त चरित कथाओं के श्रवण से प्रीतिमान हुए भक्त-हृदय में भगवान् भक्त के कर्ण-रन्ध्रों से आकर विराजमान हो जाते हैं। 'यद् याद्धियात उरगाय विभावयन्ति।' प्रेमवती प्रज्ञा के द्वारा भक्त जिस स्वरूप की भावना करता है उसके लिए भगवान् उसी स्वरूप में पधारते हैं। प्रत्येक भक्त का अपना विशिष्ट भगवत्-स्वरूप होता है। 'राधा-सुधा-निधि' का उल्लेख है;

जैसे राधारानी का भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्य प्रेम है वैसे ही श्रीकृष्ण भी केवल राधारानी को ही जानते हैं। यही प्रेम-तत्त्व का महत्त्व है। जैसे जीव प्रेम-तत्त्व के स्पर्श से अपनी अल्पज्ञता को भूल जाता है वैसे ही भगवान् भी अपनी सर्वज्ञता को भूल जाते हैं। यही कारण है कि श्रीकृष्ण निरन्तर कुञ्ज-वीथी की ही उपासना करते हैं और राधारानी से भिन्न अन्य किसी को नहीं जानते। एतावता राधारानी कह रही हैं कि हे मधुप! यद्यपि कृष्ण मथुरा में नहीं रहना चाह रहे हैं तथापि आर्यपुत्र होने के कारण आग्रहवशात् रह रहे हैं। हे सौम्य! इस स्थिति में वे तुम्हारा क्या उपकार कर सकेंगे? चिन्ताकुल व्यक्ति अन्य की क्या सेवा कर सकता है?

हरिरामजी की 'मुक्तावली' में रामानुजाचार्य ने बड़े समारोहपूर्वक विप्रयोग-ताप को सर्वोच्च्य पुरुषार्थ सिद्ध किया है।

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा ष्टष्ठतः सा पुरः सा।

अर्थात्, विरह-जन्य तीव्र-ताप के प्रसाद से सर्वत्र प्रमास्पद का ही दर्शन होने लगता है। अतः संग्राम से विरह ही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ वस्तु की कामना ही स्वाभाविक है। अतः भक्त भगवद्-विरहानुभूति की कामना करता है। प्रेम-भाव न होने पर भगवान् में भी आकर्षण नहीं होता। उदाहरणतः दुर्योधन को भी कृष्ण-सम्मिलन प्राप्त होता ही था परन्तु प्रेमशून्य होने के कारण उसको भगवत्-सम्मिलन-जन्य आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती थी।

राधारानी कह रही है, हे मधुप! श्रीकृष्ण तो स्वयं ही व्याकुल-चित्त हैं परन्तु वसुदेव-देवकी की आज्ञा न मिलने के कारण नहीं आ पा रहे हैं। वे वेद-शास्त्र-निष्पात हैं, उनका उपनयन आदि संस्कार भी हो चुका है अतः पितृ-आज्ञा प्राप्त किये बिना नहीं आ सकते क्योंकि वे ऐसा अशिष्ट व्यवहार नहीं कर सकते। नन्दबाबा उनके अकल्याण की आशंका से उनको यहाँ नहीं बुलाते;

तथापि अपने व्याकुल चित्त के कारण श्रीकृष्ण भी मधुपुरी में सुखपूर्वक तो नहीं रह पाते होंगे? क्या वे कभी हम लोगों की चर्चा भी करते हैं?

'इदमिदानीं उत्पादयितव्यम् इतमिदानीं पालयितव्यम्' सर्वेश्वर प्रभु संकल्प मात्र से ही उत्पादन, पालन सब कुछ कर सकते हैं। ऐसे ही भगवदंश जीव भी सक्षम है तथापि अनाचारादि से आवृत होकर उसकी मन:शक्ति क्षीण हो जाती है; निरन्तर भगवदाराधना, ध्यान-धारणा से मायाशक्ति उसके संग हो जाती है तब वह भी सर्वशक्तिमान हो जाता है।

'यत् यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत् तद् वपु: प्रणयसे सदनुग्रहाय।' जैसे वाक्य का तात्पर्य है ऐसी ही प्रेम-विह्वल दशा में राधा रानी 'मधुरिपुरहमिति भावनशीला (गीतगोविन्द, सर्ग ६) हो जाती हैं। वे अनुभव करती हैं' मैं ही श्रीकृष्ण हूँ। वे सत्य-संकल्पा, सत्य-स्वरूपा हैं अत: वे कृष्ण बन जाती हैं। दुराचारी कंस भी अपने अतिशय अहंकारवशात् अपने आपको सर्वेश्वर, सर्वज्ञ मानता था परन्तु उसका संकल्प असत्य पर आधारित होने के कारण निरर्थक एवं निष्फल ही हुआ।

मन ही भाव-समुद्र है; जैसे पारद में डाला गया गंधक भी पारद ही बन जाता है वैसे ही प्रेम-भाव पूरित भक्त-हृदय भी भगवत्-रूप ही बन जाता है। पारद भी रसेन्द्र है, भगवान् भी रसेन्द्र हैं 'रस ꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती' (तै० उ० २.७) इस रसेन्द्र से आनन्द प्राप्त कर प्राणी का मन, चित्त भक्ति-रसामृत-सिन्धु बन जाता है; इस रसामृत-सिन्धु स्वरूप चित्त की सम्पूर्ण भाव-लहरियाँ सिन्धु समान ही रसपूर्ण हैं।

उक्त श्लोक का श्रौत पक्षानुसार अर्थ है, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:' (गीता १५.७) जीव भगवदंश हैं; 'अमृतस्य पुत्रा:' (ऋ० सं० १०.१३.१)। प्राणी मात्र अमृत-पुत्र अर्थात् सच्चिदान्द-घन का स्वरूप है तथापि अविद्या माया-उपाधि में निविष्ट होकर जीव-भाव को प्राप्त कर भवाटवी में भटकता हुआ दु:खी रहता है। ऐसे माया-ग्रस्त दु:खी जीव पर अनुग्रह कर श्रुतियाँ उसको उपदेश करती हैं। हे जीवात्मन्! तुम आर्यपुत्र हो; 'अर्तुं सर्वत्र गन्तुं शील: आर्य:' जो सर्वत: परिपूर्ण हो, सर्वत्र व्याप्त हो, वही आर्य है। जीव आर्यपुत्र है, सर्वव्यापक सर्वत: परिपूर्ण परमात्मा का अंश है। तथापि 'अधुना संसार-दशायां मधुपुर्यां आस्ते' मधु अर्थात् दुराप, पुत्र-कलत्र आदि सांसारिक मोह-जाल-ग्रस्त पुरी ही मधुपुरी है उसमें तादात्म्य भाव को प्राप्त होकर जीव परतंत्र हो जाता है और अनेक गुणों को, उपाधियों को अपने साथ जोड़ लेता है। 'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' (गीता ५.१३) इस नव द्वारवाले पुर में जीव भी रहता है, देही भी रहता है; ज्ञानी देहाभिन्न आत्मा को जानता है

परन्तु सामान्यतः प्राणी देह के साथ तादात्म्य-भाव करके, देहाभिमानी होकर मधुपुरी के सुख-आयतनों के भोग में लिप्त हो जाता है। ऐसे जीव को श्रुतियाँ सावधान करती हैं, 'आर्यपुत्र मधुपुर्याम् आस्ते' हे जीवात्मन्! यह विश्वप्रपञ्च ही भगवान् का क्रीड़ोद्यान है। 'आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।' इस उद्यान में आकर हे आर्यपुत्र जीव! तू उसके सुन्दर रंग-बिरंगे फूल-फलादि में मोहित हो उसके सुख को भोगता है तथापि इस सबके स्रष्टा के प्रति कभी भी जिज्ञासु नहीं होता। सामान्यतः सभी जीव संसार में आकर यहाँ के सुख-दुःख भोगते-भोगते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। कोई एक 'पुरुषधौरेय पुरुषग्रामणी' ही ऐसा होता है जो सर्व-स्रष्टा के विषय में भी चिन्तन करता है। संपूर्ण देह पितृ-गृह है; प्राणी मात्र का देह भगवान् का धाम है। जहाँ-जहाँ जीव है वहीं-वहीं परमात्मा भी है। 'द्वा सुपर्णा सायुजा सखाया'। (ऋग० १.१६४.२०) दोनों ही एक शरीररूपी वृक्ष के निवासी हैं, दोनों सुपर्ण हैं, दोनों साथ-साथ हैं और परस्पर सखा हैं। जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब, घटाकाश और महाकाश, अथवा तरंग और समुद्र सदा अभिन्न हैं वैसे ही जीव भी सदा परमात्मा से अभिन्न हैं। अतः शरीर मात्र ही प्रभु का है, 'पितृ-गेहान्' है।

यह अमृत-पुत्र जीव बन्धु-बान्धव, कुटुम्ब-परिवार से युक्त मधुपुरी में रहने लगता है तात्पर्य कि जीव इस भोग-यातना शरीर में निवास करता है। संसार में सम्पूर्ण सम्बन्ध, बन्ध-बान्धव, कुटुम्ब-परिवार इस देह से ही सम्बन्धित हैं; देहनाश के साथ उन सबका भी नाश हो जाता है। प्रसिद्ध है, 'आप मरे जग प्रलय'। इन जीवों में कोई एक 'किंकरीणाम्' कर्मकाण्डावबोधन-परा श्रुतियों के अध्ययन में तत्पर होता है; इन कर्मकाण्ड बोधिनी श्रुतियों का ज्ञान प्राप्त कर भी वह निरंतर लोक-लोकान्तरों में भटकता रहता है। 'स्वरूप न जानाति' कर्म-काण्डजाल में ग्रस्त प्राणी अपने स्वरूप को नहीं जान पाता। ऐसा प्राणी पितृ-गेहान् जानाति, बन्धून् जानाति, स्त्रीपुत्रादीन् जानाति तात्पर्य कि जगत्-प्रपञ्च को जानता है परन्तु 'भगवन्तं न जानाति' भगवान् के स्वरूप को नहीं जान पाता। कर्म-काण्ड को जानकर उसके आधार पर स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कर लेता है तथापि भगवत्-तत्त्व विज्ञान से वञ्चित ही रह जाता है। 'न अस्माकं मूर्धानि' अर्थात् श्रुतियों का मूर्धा वेदान्त, वेदशीर्ष वेदों का शिरोभाग; 'अगरु सुगन्ध' से तात्पर्य है साधन-चतुष्टय सम्पत्ति-सम्पन्न अन्तःकरण अर्थात् शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, नित्यानित्य-वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ-फलभोग-वैराग्य-युक्त वेदशीर्षा श्रुतियों में संलग्न करे। तात्पर्य कि श्रुतियाँ जीव को वेदान्त में मन लगाने का उपदेश करती हैं। भगवत्-तत्त्व प्राप्त व्यक्ति स्वयं भी आनन्द-मग्न रहता हुआ दूसरों को भी आनन्द प्रदान करता है।

मधुपुरी का अर्थ मथुरापुरी भी है। मथुरापुरी की बड़ी महिमा है।

काश्यादि-पुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या।
या जन्ममौञ्जीकृत-मृत्युदाहे तासां जनानां विदधाति भक्तिम्॥

संसार में काशी आदि जितनी भी पुरियाँ हैं उन सब में मथुरापुरी ही महान् है, जहाँ जन्म मौञ्जी, मरण एवं दाह इन चारों में से कोई एक संस्कार हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। मथुरा में चतुर्धा मुक्ति मिलती है। इस पुरी में एक रात निवास कर लेने से भी प्राणी के हृदय में प्रेमांकुर उत्पन्न हो जाता है।

'मधु' शब्द का अर्थ सुख भी है। तैत्तिरीय एवं वृहदारण्यक उपनिषदों में सुख का विश्लेषण किया गया है; धन, ऐश्वर्य, मान आदि जन्य सांसारिक सुख की मानव-सुख है। सम्पूर्ण मानव-सुखों से सौ गुणा अधिक सुख है, गान्धर्वों का; इसी तरह देव-गान्धर्व, आजान-गान्धर्व, कर्म देव, ऐन्द्रपद, बृहस्पति एवं ब्रह्मा का सुख भी क्रमशः सौ-गुणा अधिकतर होता जाता है। मधुपुरी, मानव शरीर-रूप यह पुरी मानव सुख से लेकर ब्रह्मादि सुख पर्यन्त की जन्मभूमि है। इस शरीर से ही सम्पूर्ण पुण्य एवं उनके सुखमय फल प्राप्त होते हैं। मानव साधन द्वारा स्वर्गादि सुख को, ऐन्द्र पद को प्राप्त कर लेता है। श्रुतियाँ उपदेश कर रही हैं, हे जीव! हे मधुप! तुम्हारा जन्म मधुपुर में, मानव-शरीर रूप पुरी में हुआ है—अतः तुम धन्यधन्य हो। इस पुरी में रहते हुए तुम भगवत्-प्राप्ति का प्रयास निरन्तर करते रहो।

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

'किंकरी' अर्थात् निम्न-स्तरीय सेवा करने वाली दासी। श्रुतियाँ उपदेश कर रही हैं, हे मधुप! हे जीव! मानव-शरीर से ही भजन बनता है। तुझको मानव-शरीर प्राप्त हुआ है। अतः तू मन्दिरों में सेवा करते हुए तीर्थाटन करते हुए यज्ञादि साधन करते हेतु 'तासां श्रुतिनां मूर्धनि' न श्रुतियों की मूर्धा वेदान्त-साधन में ही अपने साधन-चतुष्टय सम्पन्न अन्तःकरण को संलग्न कर सच्चिदानन्दघन स्वस्वरूप को पहचान ले, जान ले। मानव शरीर धारण का सर्वाधिक फल यही है, यही प्राणी मात्र का पुरुषार्थ है।

१३

उद्धव उवाच

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत॥

(भाग० १०.४७.२२)

शुकदेव जी ने कहा, हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गोपाङ्गनाएँ अत्यन्त व्याकुल हो रही थीं। कृष्ण-दर्शन की उनकी ऐसी बलवती लालसा देखकर उद्धव ने उनको श्रीकृष्ण का सन्देश सुना कर सान्त्वना देते हुए कहा।

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥

(१०.४७.२३)

उद्धव कह रहे हैं, हे गोपाङ्गनाओं! आप लोग कृतकत्य हैं। साथ ही सम्पूर्ण लोकों में वन्द्य हैं क्योंकि आप लोगों ने वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण में इस प्रकार सर्वभावेन अपने मन को समर्पित कर दिया है।

'अर्थ्यन्ते कामयन्ते इति अर्थाः, पूर्णार्था पूर्णा अर्था यासां ताः' भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा को पिशाची रूप मान कर उनका त्याग कर भगवान् वासुदेव में शुद्ध प्रेम करने वालों के सम्पूर्ण पुरुषार्थ स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। साथ ही वे लोक-वन्द्य भी हो जाते हैं।

'वासुदेवः, वसन्ति सर्वाणि भूतानि अस्मिन् इति वासुः' जो सम्पूर्ण लोकों को अपने में वास दे वह 'वासु' है; तात्पर्य कि सम्पूर्ण भूतों में निवास करने वाला, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर ही 'वासु' है। 'द्योतनात्मकः देवः' द्योतनात्मक होने

के कारण वे देव हैं; सम्पूर्ण इन्द्रियाँ एवं मन भी द्योतनात्मक हैं, परन्तु इनकी द्योतनात्मक बुद्धि है; बुद्धि का द्योतनात्मक अहंकार है, अहंकार का भी द्योतनात्मक स्वप्रकाश ब्रह्म ही है। अस्तु, सर्व भूतों में वास करने वाला, सर्व-व्यापक, सर्व-द्योतनात्मक ही वासुदेव हैं। सम्पूर्ण सद्‌गुण सम्पन्न, समस्त ऐश्वर्य, सांगोपाङ्ग समस्त यश, ज्ञान, वैराग्यादि जिसमें हों वह सगुण, साकार, कल्याण-गुण-गण-धाम, निर्गुण, निर्विकार, परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं। ऐसे वासुदेव कृष्ण में व्रजाङ्गना-जनों ने जो लोकोत्तर मति स्थापित की है वह अद्‌भुत है; साथ ही समस्त पुरुषार्थों का उत्कृष्टतम फल भी है। वासुदेव भगवान् में उनकी निष्ठा अमित है। ऐसी अमित निष्ठा अत्यन्त दुर्लभ है।

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के अनेक भेदों का उल्लेख किया है। स्निग्ध अन्त:करण द्वारा भजन ही भक्ति है; भक्ति में द्रवता ही प्रमुख है। सर्व-त्याग पूर्वक भगवत्-शरणागति ही प्रपत्ति है; 'मयायमात्मा भवते निवेदित:।' मेरे द्वारा मेरी आत्मा, मेरी सर्वस्व भगवत्-चरणों में अर्पित है ऐसा सुदृढ़ भाव ही प्रपत्ति है। प्रपत्ति होने पर ही भक्ति बनती है।

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमै:।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यै: कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

(१०.४७.२४)

कल्याण के विविध साधन दान, व्रत, जप तप, होम, स्वाध्याय एवं संयमादि द्वारा कृष्ण-भक्ति प्राप्त करने का ही प्रयास किया जाता है। उक्त विभिन्न साधनों से बुद्धि शुद्ध होती है, नित्यानित्य-विवेक का सम्पादन होता है और मोक्ष की उत्कृष्ट कामना जाग्रत् होती है; उत्कृष्ट कामना जागृत होने पर ही भगवत्-साक्षात्कार सम्भव होता है।

मीमांसा का वचन है 'संयोग-पृथक्त्वं' अर्थात् 'संयोग-पृथक्त्व न्याय' से सम्पूर्ण जप, तप, होम, दान, व्रत एवं स्वाध्याय-संयमादि कल्याण के विविध साधनों का फल भगवदर्पण करने पर ही भगवत्-तत्त्व-विविदिषा, भगवत्-तत्त्व-विज्ञान होता है। भगवत्-तत्त्व विविदिषा का भी पर्यवसान भगवत्-भक्ति में ही है। तात्पर्य कि 'कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते सम्पाद्यते।' श्रीकृष्ण में भक्ति का सम्पादन ही सम्पूर्ण सत्कर्मों का फल है।

भक्ति के भी अनेक भेद हैं। यहाँ उनका उल्लेख संक्षेप में कर रहे हैं। द्रवीभूत अन्त:करण की भगवत्-भावाकारित चित्त में भगवत्-स्वरूप की स्थिरता ही भक्ति है। भक्ति के प्रमुखत: दो भेद हैं; विहित और अविहित। वेदों में जिसका विधान हो वह वैधी अथवा विहित भक्ति है। स्वभावत: उद्‌भूता रागानुगा ही अवैधी अथवा अविहित भक्ति है।

विहित भक्ति के भी दो प्रकार हैं; एक मिश्रा और दूसरी सिद्धा। मिश्रा भक्ति के तीन प्रकार हैं; कर्म-मिश्रा, ज्ञान-मिश्रा तथा कर्म-ज्ञान-मिश्रा। कर्म-मिश्रा भक्ति के भी तीन प्रकार हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। तामसी भक्ति के तीन प्रकार हैं—हिंसार्था, दम्भार्था तथा मत्सरार्था। राजसी भक्ति विषयार्था है; कर्म-मिश्रा राजसी भक्ति के तीन प्रकार हैं। विषयार्था, ऐश्वर्यार्था तथा सम्मानार्था। सात्त्विकी भक्ति के भी तीन भेद हैं। कर्म-क्षयार्था, विष्णु-प्रीत्यर्था, विधि-सिद्धार्था।

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

(भाग० २.१५)

अर्थात्, हे पार्थ! सर्वात्मा, सर्वेश्वर भगवान् हरि ही सम्पूर्ण प्राणियों के चित्त द्वारा एकमात्र श्रोतव्य, कीर्तितव्य, एवं स्मरणीय हैं। निरुद्देश्य भाव से भजन ही यथार्थ भक्ति-रस है।

कर्म-ज्ञान भक्ति भी तीन प्रकार की है। उत्तम अथवा प्राकृत, मध्यम एवं अधम।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

(भाग० ११.२.४७)

जो केवल तत्-तत् भगवत्-विग्रह में ही भगवान् की पूजा करता है परन्तु भगवद्-भक्तों की पूजा नहीं करता फिर अन्य जनों की तो बात ही क्या, ऐसे भक्त प्राकृत भक्त हैं अर्थात् अभी प्रारम्भिक दशा में हैं तथापि कालान्तर में क्रमशः ये भी उत्तम कोटि को प्राप्त हो जावेंगे।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

(भाग० ११.२.४६)

जो प्राणी ईश्वर में प्रेम करते हैं और उनके भक्तों में मैत्री-भाव रखते हैं, अज्ञानियों में दया-भाव रखते हैं, और द्वेष या बैर-भाव रखने वालों के प्रति उदासीन रहते हैं वे मध्यम कोटि के हैं। कृपा की अपेक्षा से की गयी भक्ति मध्यमा है।

सर्वभूतेषु यः पश्चेद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवत्तोत्तमः।

(भाग० ११.२.४५)

जो मुझे परमात्मा में ही सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च को अध्यस्त देखते हैं और सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च में मुझको ही अधिष्ठान रूप देखते हैं वे सर्वोत्तम कोटि में आते हैं।

ज्ञान-मिश्रा भक्ति निर्गुणा है।

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसोवृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥

(भाग० ३.२५.३२)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि में फँसी हुई इन्द्रियाँ आनुश्रविक, वेदोक्त मार्ग में लग जायँ; तात्पर्य कि उनको प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाय—ऐसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में सुव्यवस्थित मन की स्वाभाविकी प्रवृत्ति भगवदुन्मुख हो जाय, यही भक्ति है। तात्पर्य कि मन में स्वभावतः भगवत्-स्वरूप का अभ्युदय हो जाना ही यथार्थ भक्ति है।

भक्त भी चार प्रकार के होते हैं। आर्त भक्त जैसे द्रौपदी, गजेन्द्रादि; जिज्ञासु भक्त जैसे अर्जुन, उद्धव, श्रुतदेवादि; अथार्थी भक्त जैसे सुदामा और ज्ञानी भक्त जैसे शुक, सनकादिक एवं श्रीहनूमान् ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

(गीता ७.१८)

यद्यपि ये सभी उदार हैं परन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा है।

जनकादि कर्म से ही सिद्धि को प्राप्त हुए। संसिद्धि का अर्थ है तत्त्वज्ञान होने पर कर्म-त्याग; किन्तु जनकादि तो कर्म करते ही थे, यद्यपि अलिप्त-भाव से ही कर्म करते थे। संसिद्धि का तात्पर्य है अन्तःकरण शुद्धि। ब्रह्मविद् वरिष्ठ भक्ति करता है; परन्तु वह उसकी साधना नहीं होती क्योंकि उसका कोई फल नहीं होता; वह तो केवल भक्ति के लिए भक्ति करता है। ज्ञानियों को भक्ति का दृष्ट फल भी मिलता है। शिशुपालादि को अदृष्ट फल मोक्ष मिल जाता है; मध्यम भक्तों को दृषादृष्ट दोनों फल मिलते हैं। भक्ति का तात्कालिक फल आनन्द और अदृष्ट फल मोक्ष है। अतः ज्ञान और भक्ति का सहभाव मानना चाहिए।

शुद्धा भक्ति या अमिश्रा भक्ति तत्त्व-ज्ञान से रहित भगवत्-स्वरूप में आकृष्ट होकर भगवान् में स्नेह करना है जैसे वानर, गीध आदि।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्मघनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व, लहरी १)

अन्य अभिलाषाओं से मुक्त, ज्ञान-कर्मादि से असंस्पृष्ट अनुकूलतया श्रीकृष्ण-स्मरण ही भक्ति है।

जीव, रूप और सनातन गोस्वामी के अनुसार आनुकूल्य और प्रतिकूल, दोनों ही प्रकार के भाव भक्ति के अन्तर्गत हैं। केवल स्निग्ध अन्तःकरणाकाराकारित वृत्ति ही वहाँ अनिवार्य है। ज्ञानकर्म-अनावृत्त-स्मरण भक्ति है भक्ति में भी ज्ञान और कर्म आवश्यक है तथापि एक विशिष्ट सीमा मात्रा में ही; जैसे दाल में नमक।

शुद्धा-भक्ति ज्ञान और श्रौत-स्मार्त एवं तान्त्रिक सम्पूर्ण कर्म रहित है। प्राणी मात्र ऐसी भक्ति के अधिकारी हैं। निर्गुणा भक्ति स्वाभाविकी है।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता मयात्मा सम्प्रसीदति॥

(भाग० १.२.६)

अन्तःकरण, अन्तरात्मा की सर्व-संधान-शून्य तथा अन्य वृत्तियों द्वारा व्यवधान रहित वृत्ति ही स्वाभाविकी भक्ति है। आनुश्रविक कर्म द्वारा विशुद्ध हुई बुद्धि होने पर ही सर्व-व्यवधान-शून्य वृत्ति बनती है। ऐसी अहेतुकी वृत्ति ही निर्गुण-भक्ति अथवा ज्ञान-मिश्रा भक्ति है।

अमिश्रा भक्ति में भक्त ज्ञान-सम्पन्न अथवा कर्म-सम्पन्न नहीं होता। उनका भक्तिभाव स्वतन्त्र है।

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥

(१०.४७.२७)

हे महाभाग्यवती गोपाङ्गनाओं! भगवान् श्रीकृष्ण के वियोग से तप्त होकर आप लोगों ने उन इन्द्रियातीत परमात्मा के प्रति वह भाव प्राप्त कर लिया है जो सब वस्तुओं में उनका ही दर्शन कराता है। आपके ऐसे भाव मेरे सामने प्रकट हुए, यह आप लोगों का मुझ पर महद् अनुग्रह है। देह, गेह पति-पुत्रादि, बन्धु-बान्धव सबका त्याग कर 'कृष्णाख्यं पुरुषं परं' (भाग० १०.४७.२६) का वरण कर लेना बड़ा दुष्कर है। विशेषतः स्त्रियों के लिए; स्त्रियों के लिए पति का त्याग उचित नहीं; 'रासलीला' प्रसंग में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं,

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

(भाग० १०.२९.२५)

पति का त्याग उचित नहीं तथापि श्रीकृष्ण ही सबके परम पति हैं; यथार्थ पति वही है जिसका सम्बन्ध सदा अविच्छिन्न हो; परमात्मा ही सदा अविच्छिन्न पति है। सांसारिक पति-पत्नी का सम्बन्ध दो जीवों का सम्बन्ध है जो कालान्तर में अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वज् जीव-समागमः॥

जैसे जल-प्रवाह में पड़े हुए दो काष्ठ-खण्ड प्रवाह के कारण संयुक्त एवं वियुक्त हो जाते हैं वैसे ही संसार-समुद्र में पड़े हुए दो जीव भी संस्कार-प्रवाह द्वारा संयुक्त एवं विमुक्त हो जाते हैं। किसी भी दो जीवों का समागम शाश्वत नहीं हो सकता। जैसे तरंग और तरंग का संयोग क्षणिक है परन्तु तरंग और समुद्र का संयोग शाश्वत है; तरंग का समुद्र से कदापि वियोग सम्भव नहीं। दार्शनिक दृष्टि से परमात्मा ही समुद्र है, और जीव मात्र इस महासमुद्र की विभिन्न तरंगें हैं। सम्पूर्ण प्रकृति एवं तज्जन्य जीव-भाव के बाध करने पर ही अनन्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का अनुभव हो सकता है। जीव-भाव का बाध ही पातिव्रत्य का भंग होना है। यथार्थ पातिव्रत्य केवल एक 'परम पुरुष' में ही सम्भव है। यहाँ स्त्रियों द्वारा पातिव्रत्य-धर्म के पालन का कदापि खण्डन नहीं है; वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आदरणीय है; साथ ही, परमात्मा-प्राप्ति का साधन भी है। जैसे शालग्राम-पूजा एक प्रतीक मात्र है; शालग्राम को विष्णु की प्रतिमूर्ति मानकर पूजा की जाती है। वैसे ही पति को भी विष्णु रूप मान लेने पर अन्ततोगत्वा परमात्मा की ही प्राप्ति होती है। विवाह-संस्कार का प्रतीकार्थ भी यही है 'इमां लक्ष्मीरूपां कन्या विष्णुरूपाय वराय तुभ्यमहं सम्प्रददे।' अर्थात् विष्णु-रूप वर के लिए लक्ष्मी-रूपिणी कन्या का सम्प्रदान करता हूँ। जैसे कोई साध्वी स्त्री अपने पति के विदेश-गमन-काल में उसकी प्रतिमूर्ति चित्रादि की पूजा कर लेती है परन्तु पति के प्रत्यागमन पर चित्र-पूजा त्याग कर यथार्थ की ही सेवा में संलग्न हो जाती है वैसे ही गोपाङ्गनाजनों ने परमात्मा के प्रतिबिम्ब, जीव-भाव को प्राप्त पतियों को त्याग कर यथार्थ पति 'परम पुरुष' श्रीकृष्ण को भजा; उनका यह भजन सर्व-कल्याणकारी है।

प्रश्न होता है कि यदि गोपाङ्गनाओं का कृष्ण-प्रेम सर्व-कल्याणकारी था तो फिर उनको ऐसा कठिन विरह क्यों हुआ? उत्तर देते हैं कि यह विरहजन्य ताप तो अनुग्रह-रूप है; 'सर्वात्मभावोऽधिकृतः, सर्वात्म-भाव को वशीकृत करने वाला है। सर्वात्म-भाव पर अनेक टीकाएँ हैं। श्रीधर स्वामी इसे एकान्त भक्ति कहते हैं। गोपाङ्गनाओं की विरह-तापानुभूति के कारण ही एकान्त भक्ति भी

उनकी दासी बन गयी। सामान्यतः प्रत्येक जीव दीर्घ-कालान्तर से ही परमात्मा से वियुक्त है तथापि वह ताप का अनुभव नहीं करता; संयोग के माध्यम से ही विरह की अनुभूति सम्भव है। गोपाङ्गनाओं को भी पहले सर्वाङ्गीण संश्लेष प्राप्त हुआ अतः उनकी विरहानुभूति भी अनुग्रह-रूपिणी हो गयी।

अन्य आचार्यों के मतानुसार 'सर्वात्मभावोऽधिकृतः' का तात्पर्य है 'सर्वात्मना भावः' अर्थात् मनसा-वाचा-कर्मणा उस एक अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकार स्वरूप में सम्मिलित हो जाना है। सर्वात्म-भाव-भक्ति विरह के माध्यम से संभव हो सकती है।

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥

(भाग० १०.४७.२७)

संसार से विरत होने पर ही परमात्मा में ध्यान लगता है। गोपाङ्गनाओं को कृष्ण-सन्निधान प्राप्त हुआ; वह बहिरङ्ग रमण था। उससे रसानुभूति हुई; तदनन्तर विरह हुआ; रसानुभूति-विहीन विरह सिद्ध नहीं होता; अनन्त-काल से परमात्मा से वियुक्त होते हुए भी जीव उसका अनुभव नहीं कर पाता क्योंकि वह रसानुभूति से रहित है। उद्धव कहते हैं, हे गोपाङ्गनाओ! आप लोगों ने मुझको सर्वात्म-भाव का दर्शन करा दिया यह आप लोगों का मुझ पर अनुग्रह है।

१४

उपसंहार

'उद्धव' शब्द 'उत्' एवं 'धव' के संयोग से बना है। 'उत् उत्कृष्टानाम् धवः पतिः' स्वामी। अतः 'उद्धव' शब्द का अर्थ हुआ सम्पूर्ण उत्कृष्टता के स्वामी, श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने अपने योग्य सेवक उद्धव को गोपाङ्गना जनों के पास उनको शान्ति देने के लिए भेजा। उद्धव ने गोपाङ्गना जनों के प्रणय-कोप-जन्य अनेक जल्प सुने और उन सम्पूर्ण अभिव्यञ्जनाओं का एक ही निष्कर्ष निकाला; उनकी कृष्ण-दर्शन की अत्यन्त उत्कट, अदम्य लालसा, तीव्र-उत्कण्ठा। भगवत्-सम्मिलन के लिए व्याकुलता ही भक्ति है। प्राणी संसार में रमण कर सकता है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति भगवदुन्मुखी नहीं हुई।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

(भाग० ११.१८.२८)

वस्तुतः निष्काम भक्त ही भक्ति-योग का यथार्थ अधिकारी है। कृष्ण-दर्शन के लिए गोपाङ्गना-जनों की अत्यन्त तीव्र लालसा को देखकर उद्धव ने उनको अपने स्वामी श्रीकृष्ण का संदेश सुनाया। सूरदास, नन्ददास आदि कवियों ने भी 'भ्रमर-गीत' की रचना की है। उन गीतों में उद्धव और गोपाङ्गना-जनों के बीच निर्गुण-सगुण का शास्त्रार्थ हुआ है जिसमें गोपाङ्गनाएँ जीत जाती हैं और उद्धव हार जाते हैं। श्रीमद्भागवत में प्राप्त वचनों के अनुसार गोपाङ्गनाओं ने ज्ञान का निरादर नहीं किया अपितु उनको उद्धव के उपदेशों से आश्वासन ही मिला। वस्तु-दृष्ट्या विवेचन करने पर यह प्रत्यक्ष हो उठता है कि ज्ञान का उद्देश्य भगवान् के सच्चिदानन्दघन सगुण स्वरूप का खण्डन करना नहीं है अपितु देह-भिन्न अप्रत्यक्ष परमात्मा प्रभु का साक्षात्कार कराना है। ज्ञानी को भी देह-धर्म की अनुभूति होती ही है तथापि उसका तज्जन्य चाञ्चल्य शेष हो जाता है। देहातिरिक्त अजर-अमर अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश आत्मा का बोध करा देना ही ज्ञान का उद्देश्य है। अस्तु, भगवान् के सच्चिदानन्दघन स्वरूप के चिन्तन से

उनके निर्गुण स्वरूप की अवहेलना नहीं होती। प्राकृत जीवों में देह और देहातिरिक्त देही की विद्यमानता होती है। परन्तु सच्चिदानन्दघन, सगुण, साकार स्वरूप मानव-प्राकृत स्वरूप से भिन्न है; वह स्वेच्छया धारण किया हुआ लीलामय विग्रह है। जैसे शक्कर से बने विभिन्न आकार के खिलौने का प्रत्येक कण शक्कर ही है, वैसे ही लीला-विग्रह भी सम्पूर्णतः सच्चिदानन्दघन स्वरूप ही है।

अन्ततः राधारानी स्तब्ध हो गयीं। कपिलदेव जी भी कहते हैं, प्रेमोद्रेक से इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं; और मन ध्यान करने में असमर्थ हो जाता है; तात्पर्य मन निर्वृत्तिक हो जाता है। मन के निरोध का प्रेम-प्राचुर्य से अन्य कोई और उपाय नहीं। 'अब लौं नसानी, अब ना नसैंहों'। जैसी सुदृढ़ भावना बनाना अनिवार्य है।

नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।
करहु विचार सुजन मन माँहीं।

स्निग्ध भजन से ही भगवत्-साक्षात्कार हो जाता है। 'विसृज्य दौरात्म्यमनन्ये सौहृदा हृदोपगुह्यार्हं पदं पदे पदे' (भाग० २.२.१८) हृदय की दुरात्मता का त्याग कर अनन्य सौहार्द्र पूर्वक अपनी हृदय-गुहा में अर्हपद, सर्व-पूज्य भगवान् के चरणारविन्दों का निरन्तर आलिंगन करो।

मोहि छल छिद्र कपट नहिं भावा।
निर्मल जन सो मो मन भावा॥

भगवदनुग्रह से ही भगवत्-शरणागति प्राप्त हो सकती है।

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया रतिः स्यात्॥

(भाग० १०.४०.२८)

भगवत्-नामापराधों से बचते हुए भगवत्-भजन करना चाहिए।

सर्वापराधकृतापि मुच्यते हरिसंश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्द्विपदपांसुलः॥

(पद्मपुराण, ब्रह्मखण्ड २५.१२)

अनेकानेक अपराधों को करने वाला भी भगवत्-शरणागत होकर मुक्त हो जाता है परन्तु नामापराध से मुक्त होने के लिए 'नामास्तीति निषिद्धवृत्ति-

विहितत्यागः' नाम के बहाने विहित कर्तव्य-कर्म का त्याग और निषिद्ध कर्मों का सम्पादन न करे।

'सन्निन्दा सति नाम वैभवकथा'। सत्पुरुषों की निन्दा, एवं असत्-मंडली में भगवत्-वैभव की चर्चा दोनों ही नामापराध के अन्तर्गत आते हैं। असत्-मंडली में ज्ञान का दुरुपयोग होगा अतः वह अपराध बन जाता है। यदि भगवद्-वैभव को कहना ही हो तो 'श्रीशेशयोर्भेदधीः' श्रीश और ईश में अभेद कर ही करें। ऐसा करने से प्राणी नामापराध से भी मुक्त हो जाता है।

यथोचित नियंत्रण में बड़ी शक्ति है। प्राणायाम के द्वारा प्राण को और शास्त्रों के द्वारा मन को नियंत्रित कर निरन्तर एक का ही चिन्तन करना चाहिए। शास्त्रानुकूल आचरण ही धर्म है अतः आपका आचरण ही धर्म अथवा अधर्म है। नियंत्रण से प्राणी उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। खान-पान, रहन-सहन का नियंत्रण भी अनिवार्य है। कुछ पाने के लिए कुछ देना ही पड़ता है; महत्-प्राप्ति के लिए अल्प का त्याग कर्तव्य है।

राम नाम इक अंक है, सब साधन हैं शून।
अंक गए सब शून्य हैं,अंक रहै दसगून॥

भगवद्-भजन बिना सम्पूर्ण नियमादि निस्सार हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्यं एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११.५३)

यज्ञ, दान, व्रत, तप, जप आदि सब मिल कर भी मेरी प्राप्ति नहीं करा सकते; प्रपत्ति, शरणागति ही वह इकाई है जिससे जुड़ कर सम्पूर्ण अन्य साधन-रूप शून्य दस-गुणित हो जाते हैं। शरणागति, प्रपत्ति ही प्रभु-सम्मिलन का राजमार्ग है। शरणागति स्वीकार करना प्राणीमात्र का कर्तव्य है, परम पुरुषार्थ है।

श्री राम जय राम जय जय राम!

करपात्रीजी प्रमुख ग्रन्थ

वेदार्थ पारिजात (दो खण्डो में)

रामायण मीमांसा

भक्ति सुधा

श्रीभागवत सुधा

श्रीराधा सुधा

गोपी-गीत

भ्रमरगीत

श्रीविद्या-रत्नाकर

श्रीविद्या वरिवस्या

श्रीभुवनेश्वरी वरिवस्या

अध्यात्म साहित्य

मूल्य : नब्बे रुपये

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी